पुष्टिमार्गीय आचार्य और उनकी परम्परायें

सत्यनारायण शास्त्री

श्रीमद्वल्लभाचार्य

विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं तेहिसन्मार्गरक्षकाः

श्रीमद्वल्लभाचार्याः

पुष्टिमार्गीय आचार्य
और
उनकी परम्परायें

लेखक

सत्यनारायण शास्त्री

प्राध्यापक-वल्लभ वेदांत

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

प्रकाशक

श्रीकृष्ण भण्डार

श्रीनाथद्वार

(द्वारा-श्रीनाथद्वार टेम्पल बोर्ड)

सं० २०२१ वल्लभ जयंती न्योछावर—३=२५

प्रकाशक
श्री कृष्ण भण्डार
श्री नाथ द्वार
द्वारा—श्रीनाथद्वार टेम्पल बोर्ड

(सर्वाधिकार लेखक के अधीन हैं)

मुद्रकः—
पारिजात प्रेस,
रामकटोरा रोड,
वाराणसी—१

पं० श्री सत्यनारायण शास्त्री अध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, की लिखित "पुष्टि मार्गीय आचार्य और उनकी परम्परायें" नामक पुस्तक का मैंने अवलोकन किया। इस पुस्तक में बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से वल्लभ संप्रदाय और उसके सिद्धान्तों की चिर पुरातनता "अनादिता" का प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थकार की यह उक्ति नितान्त समीचीन प्रतीत होती है कि वेद पर आधारित सभी सम्प्रदाय और उनके सिद्धान्त अनादि वेदोपजीवी होने से वस्तुतः अनादि होते हैं। तत्तत् समय में अवतरित होने वाले आचार्य तो उनका केवल उपोद्बलन उप बृंहण और प्रचारण मात्र करते हैं। और यही कारण है कि विशिष्ट आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित होने वाले सम्प्रदाय देश की जनता के हृदय में श्रद्धापूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते हैं। श्री शास्त्री के कथनानुसार वल्लभ सम्प्रदाय भी एक अनादि वैदिक सम्प्रदाय है और उसके प्रतिष्ठापक श्री मद्वल्लभाचार्य सर्वज्ञकल्प वैदिक आचार्य हैं।

इस ग्रन्थ में पुष्टिमार्ग का प्रामाणिक विवेचन बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। भक्ति को साधन और साध्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए बड़ी सुन्दरता से यह बताया गया है कि भगवान् स्वयं उपास्य के रूप में साधन होकर भक्त के समक्ष अपने को प्रस्तुत करते हैं। और जब भक्त की निष्ठा और साधना का परिपाक होता है तब वही साध्य बनकर मनुष्य के चरम प्राप्य पुरुषार्थ के रूप में प्रस्फुटित होते हैं। इस सर्व स्पृहणीय शाश्वत् सिद्धि के लिये इस सम्प्रदाय में सेवा और समर्पण को सर्वश्रेष्ठ और सर्वान्तिम साधन बताया गया है। श्री शास्त्री ने इस तथ्य का अपने इस छोटे से ग्रन्थ में हृदय स्पर्शी प्रतिपादन किया है। मेरे विचार से वल्लभ सम्प्रदाय के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक नर नारी के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। मैं ऐसे उपयोगी और प्रामाणिक ग्रन्थ को लिखने के लिये श्री शास्त्री को धन्यवाद देता हूं।

पं० श्री बदरीनाथ शुक्ल

अध्यक्ष—न्याय वैशेषिक दर्शन विभाग

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

आत्मनिवेदन

पुष्टिमार्ग के वर्तमान स्वरूप को देखकर इसके सम्बन्ध में लोगों की नाना प्रकार की धारणाएँ हैं। सम्प्रदाय के मेधावी नवयुवक भी इसे उपेक्षा की दृष्टि से देख कर इससे विरत हो रहे हैं। इस ग्रन्थ के लिखने का मुख्य प्रयोजन यह है कि लोग सही रूप में पुष्टि मार्गीय आचार्यों और उनकी परम्पराओं को समझें। सेवा और आत्म-समर्पण ही पुष्टि-मार्ग का एक मात्र आदर्श है। त्याग के द्वारा भोग इसकी विशेषता है। किन्तु आज श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों के सिद्धान्त और उनके नाम पर चलने वाला समुदाय दोनों परस्पर विरोधी दो वस्तु हो रहे हैं। सिद्धान्त की जगह व्यक्ति विशेष की प्रतिष्ठा के ये सब अनिवार्य परिणाम हैं। सेवा, समर्पण, भक्ति, गुरू आचार्य, धर्म और ईश्वर इनका वैदिक दर्शनों में क्या स्थान है और श्री मद्वल्लभाचार्य चरणों ने किस प्रकार पुनः इनकी प्रतिष्ठा की यही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है।

आचार्य, आचार पर अधिक आग्रह रखते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित स्पर्शा स्पर्श (अ परस) विवेक समाज की नैतिकता का आधार था। अनुचित उपायों द्वारा अर्जित द्रव्य भगवान् कभी अंगीकार नहीं करते। आचार्य चरणों का यह उद्घोष समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार को नष्ट करने का अव्यर्थ साधन है। पुष्टि-मार्गीय आचार्यों द्वारा प्रवर्तित इस सेवा समर्पण और आचार्य परम्परा के लुप्त होजाने का एक मात्र कारण है आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के अध्ययन अध्यापन का अभाव।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि हम अब भी इस ओर से पूर्ण उदासीन हैं सम्प्रदाय के उच्चकोटि के ग्रन्थों के अध्ययन अध्यापन के लिए अब भी भारत वर्ष में अपना कोई विद्यालय या महाविद्यालय नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक भगवत् मन्दिर को (हवेली) महाविद्यालयों के रूप में परिणत कर दिया जावे। ईश्वर शक्ति की जगह आचार्य शक्ति को प्रतिष्ठित करना आज की सब से बड़ी आवश्यकता है। इस दिशा में उत्तर प्रदेश सरकार ने सर्व प्रथम 'वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय' में सम्प्रदाय के उच्च कोटि के ग्रन्थों के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था की है। अहमदाबाद, बम्बई, तथा कलकत्ता के उद्योग पतियों के सहयोग से ५००००) रु० एकत्रित हुए हैं जिन में श्री नरसिंह सहाय मदन गोपाल फर्म (कलकत्ता) तथा नि० लि० सेठ श्री हरि दास अचरत लाल (अहमदाबाद) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। काशी में ऐसी व्यवस्था होनी आवश्यक है जहाँ देश के कोने कोने से जिज्ञासु आकर आत्म लाभ कर सकें।

इसी दृष्टि से बल्लभ वेदान्त उपदेशक महाविद्यालय की स्थापना की गई है। सेठ श्री हरिलाल हरिबल्लभदास ट्रस्ट के ट्रष्टी महानुभावों के उदार सहयोग से छात्रावास में भवन निर्माण कार्य हो रहा है, जिसमें लाखों रुपये की आवश्यकता है। समय रहते शास्त्रों की रक्षा की ओर यदि ध्यान न दिया गया तो पठन पाठन के अभाव में आचार्यों द्वारा रचित अमूल्य साहित्य नष्ट हो जावेगा। यह हर्ष की बात है कि वर्तमान "श्री नाथद्वार टेम्पलबोर्ड" के अध्यक्ष श्री कृष्णराज माधवदास ठाकरसी महोदय का ध्यान साम्प्रदायिक साहित्य प्रकाशन की तरफ आकृष्ट हुआ है। आप श्रीमन्त होने के साथ ही विद्या प्रेमी भी हैं। इस ग्रन्थ के लेखन तथा प्रकाशन का सम्पूर्ण श्रेय श्री ठाकरसी महोदय को हैं। समय समय पर आप द्वारा ट्रस्ट को भी आर्थिक सहयोग प्राप्त होता रहता है, जिसके लिए हम हृदय से आप के आभारी हैं। इस ग्रन्थ के लेखन कार्य में श्री मोहनलाल आचार्य और मेरे प्रिय शिष्य उमेशचन्द्र पाण्डेय का पूर्ण सहयोग मुझे प्राप्त रहा है। श्री वल्लभाधीश की अहैतुकी कृपा के ये अधिकारी बनें, यही हमारी मंगलमय प्रभु से प्रार्थना है। पारिजात प्रेस के अधिष्ठाता श्री केदार नाथ खत्री के स्नेह पूर्ण व्यवहार ने समय पर इस ग्रन्थ को पाठकों के लिए सुलभ किया, तदर्थ हम आप के भी कृतज्ञ हैं।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के न्याय वैशषिक दर्शन विभाग के अध्यक्ष तथा विश्व के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् परम श्रद्धेय पूज्य श्री गुरुदेव के प्रति मैं अपनी भक्ति व श्रद्धा किस रूप में प्रकट करूं, यह समझ में नहीं आता। जिन्होंने मेरे इस बाल प्रयास को अपनी लेखनी से मण्डित कर इस ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है। अन्त में हम उन सभी महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं जिनसे मुझे किसी भी प्रकार का साहाय्य प्राप्त हुआ है। यदि इस लघुनिबन्ध द्वारा जिज्ञासु वैष्णव महानुभावों का कुछ भी लाभ हुआ, तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा

स्थान :--
श्री मद्वल्लभवेदान्त उपदेशक महाविद्यालय
छात्रनिवासट्रस्ट
१०/६ हुकुलगंज वाराणसी
मिती बैशाख कृष्णा एकादशी-वल्लभ जयन्ती

श्री सत्यनारायण शास्त्री
प्राध्यापक-वल्लभवेदान्त
वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय

श्रीमन्मुकुन्द गोपालौ जयतः

पुष्टिमार्गीय आचार्य और उनकी परम्परायें

आदौ श्री पुरुषोत्तमं पुरहरं श्री नारदाख्यं मुनिम् ।
कृष्णं व्यासगुरुं ततोऽनुद्रविडं श्रीविष्णुपादाम्बुजम् ।
तच्छिष्यं किल विल्वमंगलमहं वन्दे महायोगिनम् ।
श्रीमद्वल्लभनामधाम च भजेऽस्मत् सम्प्रदायाधिपम् ॥

पुष्टिमार्गीय आचार्य और उनकी परम्पराओं पर विचार करते समय हमें श्री मद्वल्लभाचार्य के पूर्व तथा परवर्ती आचार्यों तथा उनकी मान्यताओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। क्योंकि पुष्टि-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक श्रीमद्वल्लभाचार्य ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह बात निर्विवाद है कि श्रीमदाचार्यचरणों ने उस परम्परा प्राप्त सम्प्रदाय का ही विकास किया था जो सम्प्रदाय परम्परा आपके पूर्वाचार्यों द्वारा प्रवर्तित हो चुकी थी आचार्य स्वयं अपने को विष्णुस्वाभिमतानुयायी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। किन्तु विष्णुस्वामिको भी आदि प्रवर्तक या संस्थापक मानना बड़ी भारी भूल होगी। सम्प्रदाय का अर्थ ही होता है कि वेदों की परम्परा या वेदानुयायी आचार्यों की परम्परा और इसी अर्थ में न्याय कुसुमाञ्जलिकार ने इस (सम्प्रदायः वेदादि सम्प्रदायः) शब्द का प्रयोग भी किया है। इस तरह सम्प्रदाय अनादि होते हैं जिन महापुरुषों ने वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन्हें ही वैदिक आचार्य कहा जाता

है। इतना ही नहीं आचार्यों को उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों, श्री मद्भगवत्गीता पर भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्तों को उन्हीं के अनुसार सिद्ध करना पड़ता है जिन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपर्युक्त प्रस्थानत्रय या प्रस्थान चतुष्टय के आधार पर किया है। उनके मत को ही सम्प्रदाय तथा उन्हें ही आचार्य कहा जाता है। जो लोग ऐसा नहीं कर सके उनके मत को 'पंथ' कहा जाता है। भले ही इन मतों के प्रवर्तक कितने ही बड़े ज्ञानी या भक्त क्यों न रहे हों। दादू, नानक, कबीर विभिन्न पन्थों के प्रवर्तक सन्त हैं, किन्तु भगवान् शंकराचार्य रामानुजाचार्य माध्वाचार्य, श्रीमद्वल्लभाचार्य आदि आचार्य कहे जाते हैं। आचार्यों और सन्तों का यह भेद ध्यान में रखने योग्य है। आचार्यों का आचरण भी उन्हीं शास्त्रों के अनुसार होता है। उपनिषदों में वर्णित सिद्धान्तों का ही साक्षात्कार ये आचार्य स्वयं करते हैं और इसी का उपदेश दूसरों को भी देते हैं। ये कभी किसी ऐसी अलौकिक वस्तु का वर्णन नहीं करेंगे जिनका मूल वेदों में विद्यमान न हो। स्मृतियों में आचार्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है।

आचिनोति हि शास्त्राणि स्वाचारे स्थापयत्यपि
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य ईरितः ॥

इस तरह आचार्य का आचरण वे जिन शास्त्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं उनके अनुकूल होना आवश्यक है। हारीत स्मृति के इस वचन के अनुसार आचार्यत्व केवल श्री महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों में ही है। आप श्री के द्वितीय पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ ने भी ब्रह्मसूत्रों के अविशष्ट भाग की पूर्ति की है। तथा पितृचरणों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों की ही विशद व्याख्या की है। आप उच्चकोटि के भगवद्भक्त थे। सम्प्रदाय में वस्तुतः कृष्ण एव हि' कहकर आपके प्रति अनुपम श्रद्धा प्रकट की जाती है। इस

कारण आपका भी आचार्यत्व निर्विवाद है इस लिए प्रस्तुत ग्रंथ में हम गोस्वामि श्रीविट्ठलनाथ से लेकर उनके पूर्ववर्ती आचार्य परम्परा पर ही विचार करेंगे और उसी प्रकाश में हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि पूर्वाचार्यों द्वारा प्रवर्तित वह सम्प्रदाय परम्परा आज किस रूप में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में श्री मद्वल्लभाचार्य के पूर्व पुष्टिमार्गीय आचार्यों की एक विस्तृत नामावली दी गई है। और सौभाग्य से उन पूर्ववर्ती आचार्यों के कुछ ग्रंथ भी विद्यमान हैं। अतः उन ग्रन्थों के आधार पर भी हम इस आचार्य परम्परा का विश्लेषण करेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमद्भागवत् में कहते हैं कि 'आचार्य मां विजानीयात्' अर्थात् आचार्य को मेरा ही स्वरूप जानो। स्वयं भगवान् ही भूतल पर आचार्य रूप में प्रगट होते हैं। ये आचार्य गुरुओं से श्रेष्ठ होते हैं। ये गुरुओं के भी गुरु होते हैं। इनके दर्शन; स्पर्श या इच्छा मात्र से ही पतित से पतित व्यक्ति भी क्षण भर में साधु हो जाता है। इनके माध्यम के बिना जीव किसी भी प्रकार भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस तरह समुद्र के जल में खारापन विद्यमान है, जल पान की इच्छा से यदि कोई व्यक्ति समुद्र के पास जावे तो उसके हाथ में खारा जल ही लगेगा। किन्तु उसी जल को मेघ मीठा बनाकर प्राणियों को वितरित करता है। ठीक उसी प्रकार मेघ के समान ये आचार्य समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्य तत्त्व भगवान् को जीवात्मा के लिए सुलभ कर देते हैं। ये स्वयं आचार्य रूप, भक्त रूप और भगवत् स्वरूप होते हैं। वस्तुतः नर-देह धारी भगवान् ही भूतल पर आचार्य रूप में प्रकट होते हैं। कुछ बातों में ये भगवान् से भी बढ कर होते हैं। भगवान् सतत ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहते हैं किंतु आचार्य को ब्राह्मी तथा जागतिक दोनों स्थितियों में रहना होता है। ब्राह्मी स्थिति में रहकर आचार्य ब्राह्म सुख का अनुभव करते हैं, और

जगत् में स्थित होकर शिष्यों के कल्याण के लिए स्वयं शिष्यों के समस्त साधनों का अनुष्ठान करते हैं। आचार्य को यह ज्ञान रखना पड़ता है कि यह जगत् सत्य है, अन्यथा वह शिष्यों को उपदेश ही कैसे करेंगे। किन्तु स्वयं आचार्य जगत् की निःसारता से भलीभाँति परिचित रहते हैं यदि ऐसा न हो तो उनमें और एक साधारण संसारी व्यक्ति में भेद ही क्या रहेगा। आचार्य को शिष्य के अपराधों का भी भार बहन करना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्य बहुत समझकर तभी जीवों को अङ्गीकार करते हैं। यदि कृपा परवश होकर कभी किसी अपराधी जीव को अङ्गीकार करना पड़ा तो आचार्य स्वयं उसके अपराध का प्रायश्चित्त करते हैं। आचार्य होने की अपेक्षा ब्रह्मज्ञानी या जीवन मुक्त होना सरल है। क्योंकि जीवन मुक्त संसार से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। किन्तु आचार्य को संसार में रहकर कार्य करना पड़ता है। इसीलिये आचार्य होना अत्यन्त कठिन कार्य है। आचार्य में ऐसी दैवी शक्ति होती है जिससे किसी जाति या वर्ग विशेष का ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण प्राणिमात्र का कल्याण होता है। आचार्य का लौकिक विग्रह भी अन्य प्राणियों के शरीर की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है। ये आनन्दप्रधान और अत्यन्त कोमल प्रकृति के होते हैं। जिन सिद्धान्तों का ये प्रतिपादन करते हैं वे सिद्धान्त भी किसी वर्ग विशेष या जाति विशेष के लिये नहीं होते। किन्तु उन सिद्धान्तों से सम्पूर्ण जगत् का कल्याण होता है। इनमें घृणा या द्वेष जैसी वस्तु का लेश भी नहीं होता यही कारण है कि इन आचार्यों के शिष्यों की निष्ठा इनमें भगवान् से भी अधिक होती है। भगवत् स्वरूप के प्रति भी इन शिष्यों की उपेक्षा बुद्धि रहती है। श्रीमद्वल्लभाचार्य इसी कोटि के आचार्य थे गो० श्री विट्ठलनाथ के शिष्यों में यह बात नहीं थी और बातों के साथ ही आचार्यचरण तथा प्रभुचरण के शिष्यों की चरित्रगत यह

विशेषता भी ध्यान में रखने लायक है।

इसीलिये वल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध व्याख्याता गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमाचार्य आचार्य केवल श्री मद्वल्लभाचार्य को ही स्वीकार करते हैं। परवर्ती गोस्वामि बालकों तथा यहाँ तक की गोस्वामि श्री विठ्ठलनाथजी को भी आप आचार्य मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। आचार्य एक ऐसी शक्ति होता है। जिसके माध्यम से ही भगवान् जीव और उसकी वस्तुओं को अङ्गीकार करते हैं। आज भी वल्लभ सम्प्रदाय में यह प्रथा प्रचलित है कि जब जीव किसी वस्तु को भगवान् को समर्पित करता है तब यही कहता है कि प्रभु! आप अमुक वस्तु को महाप्रभुजी की (कानि) मर्यादा से अङ्गीकार करें। इस तरह यह स्पष्ट है कि आचार्य केवल श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण ही हैं। आपके पूर्ववर्ती भगवान् शिव, नारद, व्यास, विष्णुस्वामि आदि भी इसी कोटि के आचार्य थे इन आचार्यों के माध्यम से ही जीवों ने हमेशा भगवान् का साक्षात्कार किया है। भगवत्तत्त्व साक्षात्कार का इसके सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं है। इन आचार्यों की अपेक्षा अल्पज्ञान तथा शक्तिवाले व्यक्तियों से भी जीव का कल्याण होता है। इन्हें गुरु कहा जाता है। इनके द्वारा भी जीव को भगवत्तत्त्व की प्राप्ति होती है। किन्तु सर्वप्रथम गुरु के लिये यह आवश्यक है कि वे शास्त्रों के मर्म के ज्ञाता हों। भगवान् के परम भक्त हों। दम्भ आदि से रहित हों गुरु के लिये दूसरी आवश्यकता है गुरु का पाप रहित होना। कुछ लोग कहते हैं हमें गुरु के चरित्र और व्यक्तित्व से क्या मतलब? हमें तो बस उनके उपदेश से मतलब है। यदि यही बात होती तो शास्त्रों में गुरु का लक्षण बतलाने की आवश्यकता ही क्या थी। शास्त्रों में जगह-जगह गुरु कैसे व्यक्ति को करना चाहिये इसका स्पष्ट निर्देश है। यदि कोई व्यक्ति किसी से गणित, इतिहास या भूगोल पढ़ना चाहे तो अध्यापक का चरित्र कैसा भी हो उससे इन

ग्रन्थों के पढ़ने में कोई बाधा नहीं आ सकती। क्योंकि इन विषयों का सम्बन्ध बुद्धि की तीव्रता से है। किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में ऐसी बात नहीं है।

गुरु यदि अशुद्ध चित्त हैं तो उनमें आध्यात्मिक ज्ञान का लेश भी नहीं रह सकता। एक अशुद्ध चित्त व्यक्ति धर्म का साक्षात्कार कभी कर ही नहीं सकता और जब स्वयं गुरु को ही धर्म का अपरोक्षानुभव नहीं है तब ऐसे गुरु शिष्य में किस ज्ञान का संचार करेंगे। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता अन्तःकरण में विषय बने हुए हैं तब तक भगवद्दर्शन या आध्यात्मतत्त्व का साक्षात्कार करना तो दूर रहा उसका आभास भी नहीं मिल सकता। अतएव सर्वप्रथम गुरु के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक होता है कि उनका चरित्र कैसा है? तब दूसरी बात आती है वे कहते क्या हैं। गुरु यदि पूर्णरूप से पवित्र होंगे तभी उनके शब्द शिष्य के अन्तःकरण में आध्यात्मिकता का संचार कर सकेंगे यदि गुरु में ही आध्यात्मिकता का अभाव है तो वे शिष्य में किस शक्ति का संचार करेंगे। गुरु में आध्यात्मिक शक्ति का प्रबल स्पन्दन होना चाहिए क्योंकि उसी शक्ति का संचार गुरु शिष्य में करते हैं इसका शिष्य को स्पष्ट अनुभव होता है कि सचमुच गुरु में से निकलकर एक शक्ति मुझ में आ रही है। इस शक्ति का संचार शिष्य में गुरु किसी लोभ या स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं करता ऐसे शक्ति सम्पन्न गुरु मानव में ही नहीं अपितु पाषाण की प्रतिमा तक में अपने दृष्टिपात या स्पर्शमात्र से भगवत्तत्त्व का आविर्भाव कर देते हैं। ऐसे गुरुओं के हृदय के समस्त भावों के आलम्बन भगवान् स्वयं होते हैं। हृदय के समस्त भावों के आलम्बन स्वरूप भगवान् को जब वे दृष्टिपातमात्र से किसी वस्तु में प्रविष्ट करा देते हैं तब वह वस्तु भी साधारण अचेतन वस्तु मूर्ति या पाषाण खण्ड मात्र न रहकर साक्षात् सच्चिदा-

नन्दमय हो जाती है। उनका यह कार्य विशुद्ध प्रेम से प्रेरित होकर शिष्य के कल्याण के लिये होता है। इस आध्यत्मिक शक्ति का संचार केवल प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है। जिन्होंने इस प्रेम तत्व का साक्षात्कार कर लिया है, जिनके समस्त भावों के आलम्बन भगवान् हो चुके हैं। वे ही इस गुरु पद के वास्तविक अधिकारी हैं। इस तरह शास्त्रज्ञ निष्पाप कामनाहीन श्रेष्ठ महापुरुष ही वास्तविक गुरु हैं। अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करने वाले ऐसे गुरु के साथ शिष्य का सम्बन्ध भी वैसा ही होता है जैसा पिता और पुत्र का।

बल्कि इससे भी अधिक पिता केवल पुत्रका भौतिक कल्याण कर सकता है। किन्तु ऐसा गुरु शिष्य को भवसागर से ही पार कर देता है। ऐसे गुरु के प्रति असीम श्रद्धा, परमविश्वास, नम्रता और विनय के बिना शिष्य में धर्म भाव जागृत हो ही नहीं सकता। गुरु आध्यात्मिक शक्ति का भण्डार होता है और शिष्य परम्परा द्वारा उस शक्ति का वितरण करता है। जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति का संचार होता है वह गुरु कहलाता है और इस शक्ति का जिस आत्मा में संचरण होता है उसे शिष्य कहते हैं। जिस प्रकार बीज के साथ ही जमीन का उपजाऊ होना भी आवश्यक होता है ठीक उसी प्रकार शिष्य में भी शक्ति ग्रहण की योग्यता होनी चाहिये। इस योग्यता का सम्पादन शिष्य स्वयं करता है अथवा गुरु कृपा से भी यह योग्यता शिष्य में आ जाती है। जब दोनों बातें मिल जाती हैं तभी धर्म का विकास होता है। शास्त्रों में जिस तरह गुरु के लक्षण बतलाये गये हैं उसी तरह शिष्य की योग्यता का भी निर्धारण किया गया है। जो शिष्य सत्यका साक्षात्कार करना चाहता है उसके लिये पहली शर्त है लोक अथवा परलोक सम्बन्धी सभी इच्छाओं का त्याग दूसरी शर्त है बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त इन्द्रियों पर पूर्णनियन्त्रण। तीसरी शर्त है—गुरु वचनों पर पूर्ण विश्वास और चौथी तथा

अन्तिम शर्त है—आत्म और अनात्म पदार्थों का विवेक। इस प्रकार का शिष्य ही धार्मिक ज्ञान का वास्तविक अधिकारी होता है। पवित्रता तथा यथार्थ ज्ञान की पिपासा शिष्य के आवश्यक गुण हैं। अपवित्र आत्मा कभी धार्मिक नहीं हो सकती। सबसे बड़ी आवश्यकता गुरु तथा शिष्य में इसी पवित्रता की होती है। शिष्य यदि पवित्र न हो तब भी गुरु के सम्पर्क से उसमें पवित्रता का संचार हो उठता है। अग्नि के सम्पर्क से गँदा लोहा भी अग्निमय हो जाता है। अग्नि उसके मल को जलाकर उसे स्वच्छ कर देती है। वह यह अपेक्षा नहीं करती कि लौह मल रहित हो जावे। तब हम उसमें प्रविष्ट होवें। कुछ आचार्यों का कहना है कि गुरु शिष्य दोनों का पवित्र होना तथा दोनों में 'धार्मिक पिपासा का रहना आवश्यक है। किन्तु कुछ आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि यदि शिष्य अर्थात् जीव में किसी भी प्रकार की योग्यता न हो तब भी वे योग्य गुरु उसमें अपनी शक्ति प्रविष्ट कराकर उसे योग्य बना देते हैं। अर्थात् शिष्य में पवित्रता का सम्पादन भी गुरु का ही कार्य होता है। ऐसी स्थिति में गुरु का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है इन आचार्यों का यह भी कहना है कि गुरु का सम्पर्क होने पर ही शिष्य में शक्तियों का विकास होता है, इसके पूर्व नहीं। जो लोग स्वयं अज्ञान में डूबे हुए हैं किन्तु अपने अन्तःकरण के अज्ञान के कारण अपने को स्वयंभू सर्वज्ञ समझ बैठे हैं तथा शिष्यों की विशाल परम्परा का भार अपने कन्धे पर उठाये हुए हैं उनकी स्थिति भगवती श्रुति के शब्दों में वैसी ही है जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे का मार्ग दर्शन कर रहा हो। ये मूढ स्वयं तो गड्ढे में जाते ही हैं शिष्यों को भी गड्ढे में ले जाते हैं।

अविद्याया मन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीरं पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा, अन्धेन नीयमानाः यथांन्धाः॥

यदि स्वयं गुरु ही अज्ञान में स्थित है तब वह शिष्य को किस बात का उपदेश करेगा संसार में ऐसे ही गुरुओं की भरमार है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही हमें प्रकाश की प्राप्ति होती है सूर्य को देखने के लिये किसी दीपक या दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती उसी प्रकार गुरु ऐसी दिव्य ज्योति होता है जिसके सम्पर्क मात्र से आत्मा जग उठता है, उसे मालूम पड़ जाता है कि मुझे सत्य की प्राप्ति हो गयी। मैं कृतार्थ हो गया। मुझे किसी वस्तु की अब अपेक्षा नहीं है। इसी गुरु शक्ति का कार्य था जिसने क्षण भर में ही छीतू चौबे जैसे कुटिल व्यक्ति को छीतस्वामी बना दिया था और उन्होंने गदगद होकर तुरन्त ही कहा था कि—'भई अब गिरधर सों पहचान' सत्यस्वयं सिद्ध होता है उसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। जिसने इस सत्य का साक्षात्कार नहीं किया वह सत्य का उपदेश दूसरों को क्या देगा? इस परम सत्य के साक्षात्कार के लिये गुरु का पवित्र होना आवश्यक है। पवित्र हृदय में ही ईश्वर अभिव्यक्त होता है। जो स्वयं पवित्र नहीं हैं वे दूसरों में पवित्रता का संचार कैसे करेंगे? यह पवित्रता ही समस्त धर्मों और सम्प्रदायों का मूल है। पवित्र या शुद्ध अन्तःकरण को ही बसुदेव भी कहते हैं। इसी वसुदेव सत्त्व को कृष्ण का साक्षात्कार होता है। इसी सत्त्व को आधार बना कर भगवान् प्रकट होते हैं किन्तु इस पवित्रता की प्राप्ति जब तक हृदय में वासनायें हैं लोक परलोक के सुख की आकांक्षा है, संसार में आसक्ति है, तब तक क्या कभी संभव है! एक अपवित्र हृदय व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार तो दूर रहा, सत्य का श्रवण भी नहीं कर सकता। पहले सत्य का श्रवण करना चाहिये, तब मनन और अन्त में सत्य का साक्षात्कार। वेद का वचन है—"श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च'। सत्य का श्रवण करो सत्य का मनन करो, सत्य का

निदिध्यासन करो तब सम्भव है तुम सत्य का साक्षात्कार भी कर लो। किन्तु जो लोग सत्य सुनना नहीं चाहते, सत्य का चिन्तन और साक्षात्कार करना तो दूर की वस्तु है जिनके हृदय में सांसारिक विषय वासनायें जड़ जमा चुकी हैं, जब वे कहते हैं कि हम परम सत्य स्वरूप भगवान् का दर्शन करते हैं भगवान् का स्पर्श करते हैं, भगवान् हमारी वस्तुओं को अंगीकार करते हैं, तब उनकी बाल बुद्धि पर दया आती है। प्रश्न है जो व्यक्ति सत्य सुन नहीं सकता, क्या वह त्रिकाल में भी सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। क्या भगवती श्रुति का यह कथन 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्दायासितव्दश्य, मिथ्या हो सकता है। 'विषयासक्त देहानां नाऽवेशः सर्वथा हरेः' जिनके अन्तः करण में सांसारिक विषय विद्यमान हैं उन्हें भगवान् का दर्शन तो दूर रहा, उनपर भगवदावेश भी नहीं हो सकता। यह श्रीमद् वल्लभाचार्यचरणोंका वचन क्या त्रिकालमें भी मिथ्या हो सकता है।

यदि संसार के समस्त धर्मशास्त्र नष्ट हो जावें तब भी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणोंका यह लघुवाक्य ही विश्वके समस्त प्राणियों के उद्धार के लिये पर्याप्त है। इसिलिये शास्त्रों, में गुरुमें पवित्रता का होना आवश्यक बताया गया है। गुरु शिष्य की केवल बौद्धिक शक्ति को ही जागृत नहीं, करता, यह कार्य तो एक विद्वान् भी कर सकता है किन्तु बड़ा से बड़ा विद्वान् भी गुरु नहीं हो सकता। विद्या के द्वारा केवल बौद्धिक क्षमता बढ़ सकती है आत्मा का विकास नहीं हो सकता। बड़े से बड़े विद्वान् शास्त्रों का अर्थ खूब कर सकते हैं किन्तु उसी अनुपात से उनकी आत्मा का भी विकास हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता तो यह होती है कि ऐसा व्यक्ति जो एक अक्षर भी लिख या पढ़ नहीं सकता सम्भव है उसका आत्मिक विकास बड़े से बड़े विद्वान् की अपेक्षा अधिक हुआ हो। ऐसे भी भक्त

हो चुके हैं जिन्हों ने उस परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया था, किन्तु जो बिलकुल अपढ़ थे। इसलिये शास्त्रों में सर्वप्रथम गुरुका विचार किया गया है। गुरु कैसा होना चाहिये ! इस विषय में स्वयं श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के वाक्य ध्यान में रखने लायक हैं। आप अपने प्रसिद्ध निबन्ध ग्रन्थमें गुरु का लक्षण इस प्रकार करते है।

कृष्णभक्त परम् वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवत तत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्॥
तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रचस्थितम्॥

गुरु भगवान्का भक्त ही न हो किन्तु परम भक्त हो। परम शब्द से आप का तात्पर्य भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुमें उसकी आसक्ति न हो। निश्चय ही जो भगवान् का परम भक्त होगा उसमें दम्भ या पाखण्ड का नाम भी न होगा। भगवान् के भक्त की पहचान ही यही है। यदि उसमें दम्भ दर्प या अभिमान अथवा क्रोध या पारुष्य हो तब वह भगवान् का भक्त ही कैसे कहा जा सकता है ? दम्भ के बाद आदि शब्द रखकर आचार्य चरण गुरु को उस समस्त आसुरी सम्पत्ति से जिसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में किया गया है रहित होना बतलाते हैं। एक तरह से श्रीकृष्ण भक्तकी यही पहचान भी है कि वह श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाई हुई समस्त दैवी सम्पत्ति से युक्त हो, तथा आसुरी सम्पत्ति से रहित हो। 'नरम्' शब्द से आचार्य यह सूचित करते हैं कि जो भक्त होगा उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय वैश्य या शूद्र हो अथवा किसी खास समाज, वर्गविशेष या वंश का हो। किन्तु उसके लिये कृष्णभक्त तथा दैवी सम्पत्ति से युक्त होना आवश्यक है। यदि उसमें दैवी सम्पत्ति ही नहीं है तो वह शिष्य में किस वस्तु का संचार करेगा, भले ही वह कितने ही उत्तम कुल में

क्यों न पैदा हुआ हो। तीसरी बात आचार्य कहते हैं कि गुरु को श्री मद्भागवत के मर्मको जानने वाला भी होना चाहिये। श्रीमद्भागवत को आचार्य समस्त शास्त्रों से श्रेष्ठ मानते हैं। इस कारण आपने श्रीमद्भागवतका स्पष्ट नामोल्लेख किया है। किन्तु आप श्री का अभिप्राय केवल इतने से है कि गुरु को शास्त्रों का मर्मज्ञ होना चाहिये। ऐसे ही गुरु के पास जाने का उपदेश भगवती श्रुति भी देती है। जैसे—सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्, गुरु का ब्रह्मनिष्ठ होने के साथ ही श्रोत्रिय भी होना आवश्यक है। ऐसा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही शिष्य में ज्ञान का संचार कर सकता है और ऐसे गुरु का ही धर्म तत्त्व के जिज्ञासु को भजन करना चाहिये। गर्मी पहुँचाने वाला पदार्थ यदि स्वयं गरम न हो तो दूसरे में वह कौन सी गर्मी पहुँचावेगा। यदि आचार्य या गुरु स्वयं आध्यात्मिक तत्त्व से शून्य हैं तो दूसरों में वे किस शक्ति का संचार करेंगे। इसीलिये आप स्वयं शङ्का करते हुए दूसरे श्लोक में उसका स्वयं समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। आप श्री आगे के श्लोक में कहते हैं कि यदि जैसे गुरु का वर्णन हमने किया है, यदि ऐसा गुरु न मिले तो स्वयं भगवान् की मूर्ति लाकर उसकी परिचर्या करो। भगवान् ही मूर्ति के रूप में वहाँ स्वयं विद्यमान हैं, ऐसा समझकर उस मूर्ति की सेवा करो। गुरु करने की अपेक्षा साक्षात् मूर्तिस्वरूप में विराजमान भगवान् की ही सेवा करना श्रेयस्कर है। नकली गुरु कल्याण का सम्पादन तो कर न सकेंगे उल्टे और गड्ढे में ले जायेंगे। कोई भी निष्पक्ष समालोचक श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा बतलाये गये गुरु के लक्षणों को पढ़कर यही कहेगा कि विश्व के किसी भी गुरु धर्माचार्य अथवा पुरोहित ने केवल शुद्ध प्रेम से परिचालित होकर अपने शिष्यों को इस प्रकार का उपदेश न दिया होगा। क्योंकि इन काल्पनिक गुरुओं या पाखण्डी पुरोहितों का तो यह दावा है कि

ईश्वर के पास उनकी कृपा के बिना कोई पहुँच ही नहीं सकता। उनका कहना है कि ईश्वर केवल हमारे ही द्वारा जाना जा सकता है। उनका उपदेश होता है 'तुम मेरे अनुकूल आचरण करो, मुझे धन दो, मेरी पूजा करो, अपना लोक परलोक सब कुछ मुझे दे दो। हम तुम्हें मरने के बाद परमात्मा तक पहुँचा देंगे। क्योंकि वह ईश्वर मुझसे वचनबद्ध हो चुका है, मैं जिससे कहूँगा उसी से वह बोलेगा, उसी की वस्तु को लेगा और उसी से सम्बन्ध रखेगा। इन पुरोहितों में एक भयानक अधिकार लिप्सा और तृष्णा समाई रहती है, यह अधिकार लिप्सा ही इनकी प्रकृति हो जाती है। जिस प्रकार पूँजीपति समझता है इस पूँजी पर एक छत्र हमारा ही अधिकार है, ठीक उसी प्रकार पुरोहित भी ईश्वर पर अपना एकाधिपत्य बतलाते हैं। ये नाना प्रकार के कथानकों तथा गाथाओं के द्वारा सरल पवित्र सत्य के सिद्धान्तों की व्याख्या घुमा-फिरा कर करते हैं। इनकी गाथाओं या वार्ताओं का एकमात्र लक्ष्य होता है हर सम्भव उपायों से अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि प्रकृति के विधान में क्षमा नहीं है। उसका अपरिहार्य्य दण्ड अपराध के अनुकूल ही भोगना पड़ता है और जिसका परिणाम होता है इन पुरोहितों के वंशजों की शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमता का ह्रास। इतिहास से पता चलता है कि इस देश में आध्यात्मिक उन्नति का श्री गणेश ब्राह्मणों ने किया था और इसे उन्होंने चरम काष्ठा तक पहुँचा दिया था। उनमें महान् मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक क्षमता विद्यमान थी। त्याग वैराग्य और संयम के तो मानों वे मूर्त रूप थे। सारा राष्ट्र उन पर मुग्ध था और उन्होंने आश्चर्यजनक कार्य भी किये। किन्तु धीरे-धीरे उनकी वह निष्ठा, उनकी वह पवित्र भावना जिससे परिचालित होकर उन्होंने वे महान् कार्य किये थे लुप्त होने लगी। वे स्वार्थ के

वशीभूत होकर धन, यश, प्रभुता और अधिकार बटोरने लगे, उन्होंने भी पुरोहितों जैसा ही दावा करना शुरू किया कि धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार हमारे माध्यम के बिना हो ही नहीं सकता। ब्राह्मण किसी भी स्थिति में दण्डित नहीं किया जा सकता। दुष्ट से दुष्ट ब्राह्मण की भी अग्र पूजा होनी ही चाहिये। हमीं सबसे श्रेष्ठ हैं और गुरु तथा आचार्य पद के भी हमीं अधिकारी हैं, भले ही हमारा आचरण या चरित्र कैसा भी क्यों न हो! जैसे सोनार का लड़का सोनार तथा व्यापारी का लड़का व्यापारी होता है वैसे ही ब्राह्मण का लड़का भी ब्राह्मण ही होगा। वही सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता का पृथ्वी पर प्रतिनिधि होगा। वे इस बात को भूल गये कि सोनार तथा व्यापारी के लड़के की प्रतिष्ठा समाज में तभी होती है जब उनमें वे पैतृक गुण विद्यमान रहते हैं जो उन्हें वंश परम्परागत प्राप्त हुए हैं। ब्राह्मणों ने अपने उस अधिकार की रक्षा के लिये राजाओं के सहयोग को प्राप्त किया। पुराणों, उपपुराणों तक में अपने इस विशेषाधिकार को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया किन्तु सबका परिणाम क्या निकला? क्या इसमें वे सफल हुये! उनके असफल होने का कारण यही था कि जिस महान् त्याग और 'ज्ञान के बलपर उन्होंने उस प्रभुत्व शक्ति को प्राप्त किया था। उस शक्ति का मूलाधार जब वह ज्ञान वैराग्य ही उनके हाथ से निकल गया तब उनकी वह प्रभुत्व शक्ति किस आधार पर टिकती। सब कुछ देकर ही तो उन्होंने उस शक्ति को प्राप्त किया था। उस शक्ति के प्राप्ति के लिये उन्हें समस्त भौतिक सुखों की तिलाञ्जलि देना पड़ा था। इस बात को वे सर्वथा भूल गये।

इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। लक्ष्य भ्रष्ट हो जाने पर पुनः मार्गस्थ होना कठिन हो जाता है और तब ऐसी प्रथाओं का जन्म होता है जिनका न तो धर्म से सम्बन्ध रहता है और न तो

सम्प्रदाय से। शताब्दियों तक इसी प्रकार के दृढ़ कुसंस्कारों से जकड़े रहने के कारण मनुष्य की विवेक शक्ति भी समाप्त हो जाती है और तब वह धर्म के वास्तविक स्वरूप से बहुत दूर हट जाता है। पूर्वजों के ज्ञान, वैराग्य, भगवद्भक्ति, त्याग संयम और तपस्या को गँवाकर केवल उन पूर्वजों के नाम से अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखना और जीविका चलाना यही इनका कार्य हो जाता है। वे यह नहीं समझ पाते कि पूर्वजों ने उन्हें जो विरासत दी थी उसे वे किस रूप में सुरक्षित किये हुए हैं। वे केवल अधिकार चाहते हैं। समाज ने पूर्वजों को जो अधिकार दिया था उसके बदले उन पूर्वजों ने समाज को ज्ञान, विज्ञान से समुन्नत किया था। वे समाज के प्रेरणा स्रोत थे। समाज पर उनकी प्रभुता, उनकी बौद्धिक शक्ति का परिणाम थी।

उन्होंने समाज को साहित्य और संस्कृति से अनुप्राणित किया था। सांसारिक विचारों को उन्होंने सर्वथा सर्वदा के लिये त्याग दिया था। सार्वजनिक हित और कल्याण के अंकुर को उन्होंने अपनी अध्यात्मिक शक्ति से पल्लवित किया था। इतना ही नहीं उन्होंने उसे अपने जीवन शोणित से सींचा भी था। इसी कारण उनकी स्मृति भी राष्ट्र में जीवन और पवित्रता का संचार करती है। समाज को उनकी इस देन के कारण ही उन्हें अपनी जीविका उपार्जन के लिये शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता था समाज द्वारा दी हुई वस्तु को वे यदि अङ्गीकार कर लेते थे तो समाज अपने को धन्य समझता था। 'संग्रह' नामक वस्तु तो उनमें थी ही नहीं। वे लेना तो जानते ही न थे। अधिक से अधिक देना, यही उनके जीवन का लक्ष्य था। उन्होंने केवल संसार तथा सांसारिक वस्तुओं का ही समर्पण नहीं किया था किन्तु स्वयं अपने आपका, इस शरीर का, कुटुम्ब का यहाँ तक कि परम प्रेमास्पद अपने आत्मा का भी उन्होंने समर्पण कर दिया

था। वे आत्म समर्पण कर कृतार्थ हो चुके थे, उनकी दृष्टि में सारा जगत् ही 'सीय राममय था।' 'अखण्डं कृष्णवत् सर्वं' यही उनका दृढ़ निश्चय था। ऐसे महापुरुषों को प्राप्त कर देश, जाति और संस्कृति धन्य हो जाती है। जब उनके उत्तराधिकारियों में पूर्वजों के वे गुण नहीं रह जाते और वे विषय वासना के शिकार बन जाते हैं तब उन्हें काल प्रवाह खा जाता है। तब वे ही उन पूर्वजों के वंशज समाज के लिये भार स्वरूप हो जाते हैं और ऐसी स्थिति में समाज के साथ उनका संघर्ष होना अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक समाज में हमेशा से दो वर्ग रहता है। एक वर्ग ऐसा होता है जिसका बौद्धिक विकास पर्याप्त हो चुका रहता है और दूसरा वर्ग होता है जिसका बौद्धिक विकास या तो बिल्कुल नहीं हुआ रहता या नाम मात्र का रहता है। समाज का यह बौद्धिक वर्ग ही संघर्ष का सूत्रपात करता है। यह वर्ग प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की कसौटी पर रख कर परखना चाहता है। यदि तर्क के कठोर प्रहार से वस्तु टिक गयी, तब यह वर्ग उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है, यदि तर्क का प्रहार होने पर वस्तु की सत्ता डगमगाने लगी तो उसे यह वर्ग अग्राह्य समझकर त्याग देता है। समाज का यह बौद्धिक वर्ग प्रत्येक वस्तु को क्यों और कैसे की कसौटी पर कसना चाहता है और जब इन पुरोहितों के पास कोई उत्तर नहीं रह जाता तब ये उस बौद्धिक वर्ग को रहस्यवाद की तरफ ले जाकर सन्तुष्ट करना चाहते हैं। इनका उत्तर होता है ये सब बातें गुप्त हैं, तुम इन बातों के जानने के अधिकारी नहीं हो, मैं जैसा चाहता हूँ वैसा करते चलो इत्यादि। किन्तु उनके इस उत्तर से समाज का यह वर्ग सन्तुष्ट नहीं होता समाज का दूसरा वर्ग भले ही उनके इस उत्तर को स्वीकार कर ले। बस यहीं से समाज का बौद्धिक वर्ग इनसे दूर हटने लगता है। और जब भी तर्क और श्रद्धा में विरोध उत्पन्न हुआ तर्क के

सामने श्रद्धा को पराजित होना पड़ता है। भले ही कुछ दिनों तक तर्क रहित श्रद्धा लँगड़े-लँगड़े चलले किन्तु अन्त में उसे तर्क के सामने आत्म समर्पण करना पड़ता है। यद्यपि यह एक ऐतिहासिक कटुसत्य है। किन्तु इसका कोई प्रतिकार भी नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि तर्क और श्रद्धा में विरोध होना ही नहीं चाहिये, तर्क से श्रद्धा का पोषण होना चाहिए। पुरोहित वर्ग की इस उपेक्षा का ही परिणाम यह होता है कि समाज का वह प्रबुद्ध वर्ग जिसे राष्ट्र का कर्णधार कहना चाहिये। इन पुरोहितों की जाल से अलग हो जाता है। इतना ही नहीं यह वर्ग अच्छी तरह समझ लेता है कि जब तक इन पुरोहितों की जाल को तोड़ा न जावेगा सम्प्रदाय या धर्म की उन्नति होनी ही असम्भव है। समाज के इस वर्ग के विद्रोही होते ही पुरोहिती की जड़ तक हिल जाती है, फिर भी प्रसुप्त लक्ष्यभ्रष्ट पुरोहिती शक्ति नहीं जगती, और समाज के उस दूसरे अप्रबुद्ध वर्ग को साथ लेकर अपनी शक्ति जमाने का प्रयत्न करती है। इस अप्रबुद्ध वर्ग में या तो बुद्धि या जिज्ञासा का बिलकुल विकास नहीं रहता या रहता भी है तो प्राचीन दृढ़ कुसंस्कारों से कुसंस्कृत रहने के कारण इस वर्ग को सन्तुष्ट कर लेना पुरोहितों के लिये सरल रहता है। जिस तरह एक भूत विद्या विशारद ग्रामीण अज्ञ स्त्रियों को नाना प्रकार की रहस्यमयी बातें सुनाकर उन्हें भयभीत कर उनका सर्वस्व हरण कर लेता है। ठीक उसी प्रकार ये पुरोहित उन अज्ञ स्त्रियों के मानस पर छा जाते हैं। वे इन अज्ञ पुरोहितों से भयभीत होकर उनके इशारे पर अपना सर्वस्व नष्ट कर लेते हैं। समाज का यह अज्ञ वर्ग समझता है भगवान् इन पुरोहितों के अधीन हैं। इनके आदेश के बिना न भगवान् हमसे सम्बन्धित हो सकता है और न तो हमारी वस्तुओं को ही स्वीकार कर सकता है। जिसका परिणाम होता है इनका भगवान् भी शास्त्रों में वर्णित वह

षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् नहीं रह जाता। किन्तु इनका भगवान् पुरोहितों का गुलाम भगवान् होता है। नाना प्रकार की रहस्यमयी बातों के द्वारा ये पुरोहित इन व्यक्तियों का मनोरंजन करते हैं। गन्दी अश्लील और शृङ्गारपरक बातें करके उसका सम्बन्ध ये भगवान् से बतलाते हैं। इसी प्रकार के पुरोहितों से प्रेरणा प्राप्त कर समाज के इस अज्ञ वर्ग में से एक ऐसे समूह का भी निर्माण होता है जिसे घनीभूत अज्ञान का पिण्डित रूप कहा जा सकता है। इनका कार्य होता है केवल लौकिक शृङ्गार की बातें करके स्त्रियों और पुरुषों के लौकिक काम को उत्तेजित करना। और ये यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि यह अत्यन्त भगवत् कृपा प्राप्त व्यक्ति के सामने ही कहने की वस्तु है और इनकी परिभाषा के अनुसार अत्यन्त भगवत् कृपा प्राप्त व्यक्ति वही हो सकता है जिसमें ज्ञान 'वैराग्य, त्याग और संयम का नाम भी न हो। इसतरह भगवान् और उनकी दिव्य लीलाओं के नाम पर नानाप्रकार के असत् कर्मों को करते हुए धर्म या सम्प्रदाय को ये लोग ऐसे व्यक्तियों की धरोहर बना देते हैं जिससे ऐसे सम्प्रदाय और धर्म से समाज के शिक्षित वर्ग की आस्था ही नष्ट हो जाती है। समाज का प्रबुद्ध वर्ग इन्हें भी घृणा की दृष्टि से देखता है, ये लोग सम्प्रदायों में जिस प्रकार के रहस्यवाद का निर्माण करते हैं वह रहस्यवाद थोड़े ही दिनों में उस सम्प्रदाय को खा जता है। रहस्यवाद की उत्पत्ति का कारण केवल यह होता है कि जब समाज का शिक्षित वर्ग धर्म की विज्ञान सम्मत परिभाषा इनसे जानना चाहता है और ये अज्ञ व्यक्ति धर्म को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाते, तब उस धर्म पर एक प्रकार की अलौकिकता आरोपित करते हैं। ये कहते हैं कि इन सब बातों के जानने के अधिकारी तुम नहीं हो, इन सब बातों को तो विशेष भगवत् कृपा प्राप्त व्यक्ति के सामने ही कहा जा सकता है। ये बातें अत्यन्त गूढ़ और

गुप्त हैं, इसके वक्ता और श्रोता अत्यन्त दुर्लभ हैं। उनकी बातों से ऐसा प्रतीत होगा मानों ये उसी प्रकार के दुर्लभ वक्ताओं में हैं, केवल सारे दोषों का समूह प्रश्नकर्त्ता है। किन्तु एक शिक्षित व्यक्ति को इस प्रकार भुलावा देकर पथ भ्रान्त नहीं किया जा सकता और समाज का शिक्षित वर्ग इनकी बातों से अच्छी प्रकार समझ लेता है कि इनका आदर्श या इनका धर्म ऐसा नहीं है जिसे साहस के साथ ये समाज के सामने प्रस्तुत कर सकें। इनकी हमेशा गुप्त रखने की ही प्रकृति हो जाती है और इनके जीवन का वही लक्ष्य जिसके परिणाम स्वरूप ये स्वार्थी और ढोंगी हो जाते हैं और इनकी इस छिपाऊ प्रकृति के कारण ही पूर्वजों द्वारा संचित सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त विद्यायें समुचित उपयोग और प्रचार के अभाव में नष्ट हो जाती हैं। जो कुछ साहित्य देश के सौभाग्य से बचा रह जाता है उसका ज्ञान भी ये अलौकिक शक्ति के द्वारा ही होना बतलाते हैं। ये यह भूल जाते हैं कि प्रकृतिका यह नियम है कि प्रत्येक कार्य का कारण उस कार्य में ही विद्यमान रहता है। कार्य के बाहर कारण का ढूंढना विज्ञान सम्मत परम्परा नहीं है। जिसके परिणाम स्वरूप नये मौलिक तत्त्वों का अनुसन्धान तो दूर रहा, पुराने बचे ज्ञान-विज्ञान को भी रहस्य का बाना पहना कर ये नष्ट कर देते हैं और इसके फलस्वरूप कालान्तर में स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। शताब्दियों तक दूसरों को जकड़ने के लिये बड़ी सावधानी से जिस शृंखला का वे निर्माण करते हैं वह शृंखला उन्हीं की गति अवरुद्ध कर देती है। फिर भी मोह वश ये उसे तोड़ना नहीं चाहते। प्रकृति का कैसा अटल नियम है, जिस जाल को फैलाकर दूसरों की उन्नति अवरुद्ध इन्होंने किया था, मकड़ी के जाल के समान वे स्वयं उसमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं, फिर भी उनकी निद्रा नहीं टूटती, किन्तु प्रकृति का अबाध नियम चलता रहता है और धीरे धीरे इन पुरोहितों का आचार, उनकी रूढ़ियां,

उनकी मान्यतायें अपने आप नष्ट होने लगती हैं और आश्चर्य की बात यह है कि उन पुरोहितों के वंशज ही सर्वप्रथम उनकी परम्पराओं और रूढ़ियों पर प्रहार कर उन्हें नष्ट करते हैं और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर बेचारा पुरोहित इसे देखता रह जाता है। उनके वंशज उन पुरानी परम्पराओं का ही त्याग नहीं करते अपितु उनमें पुरानी मान्यताओं और परम्पराओं के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। भले ही पुरोहितों या उनका अनुयायी अज्ञ वर्ग इन वंशजों को नास्तिक घोषित कर दे, अथवा अपना सम्बन्ध इनसे तोड़ दे। किन्तु समाज का शिक्षित वर्ग उन पुरोहितों की अपेक्षा उनके इन आधुनिक वंशजों को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखता है। अब उनके ये वंशज निश्चय ही उन पुरोहितों की अपेक्षा अधिक मेधावी चिन्तनशील और कर्त्तव्यनिष्ठ होते हैं। शिखा की जगह ये बाल भले ही संवारते हों, खान पान और स्पर्शास्पर्श विवेक भी इनमें भले न हो, किन्तु निश्चय ही इनमें समाज को वे वस्तुयें दिखलायी पड़ती हैं जिसकी प्रत्येक राष्ट्र को आवश्यकता होती है। ये प्रबुद्ध समाज के एक अङ्ग हो जाते हैं और इस तरह ये भी उन पुरोहितों से घृणा करने लगते हैं। समाज के प्रबुद्ध वर्ग को ये पुरोहित कुछ भी कहें, इसका असर न तो समाज पर पड़ता है और न तो उस प्रबुद्ध वर्ग पर, जिसने यह निश्चय कर लिया है कि इनका बना रहना ही समाज और राष्ट्र के लिये कलङ्क है। ये प्रकृति के नियमों के वशीभूत होकर ही कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं। किन्तु इस सत्य को न समझने के कारण कभी तो समाज को गाली देंगे और कभी युग धर्म की दोहाई, किन्तु वास्तविकता यह है कि जिस धर्म रक्षण के कारण समाज में इनकी इतनी प्रतिष्ठा थी उस धर्म की उपेक्षा ने ही इन्हें नष्ट किया। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये जिस नकली धर्म का चोला इन्होंने धारण किया था जब उसका पर्दा फास हो जाता है और अधर्म से धर्म अभिभूत हो जाता

हैं तब धर्म और सम्प्रदाय सदा के लिये अपनी एक अमिट छाप छोड़ कर पुरोहिती और पुरोहित प्रथा दोनों को ही समाप्त कर स्वयं भी समाप्त हो जाते हैं। यह शाश्वत नियम सामान्य रूप से सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लिये लागू होता है। सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक आचार्य जगत् कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जिन दिव्य सिद्धान्तों का आविष्कार करते हैं वे सिद्धान्त निश्चय ही समस्त प्राणियों के कल्याण के लिये समान रूप से उपयोगी होते हैं। इन आचार्यों की स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं रहती कि कालान्तर में हमारे ये सिद्धान्त एक वर्ग विशेष जाति विशेष, या वंश विशेष के कल्याण के साधक होंगे। पैतृक या वंश परम्परा की दृष्टि से महा पुरुष सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया करते। निश्चय ही यह सामान्य नियम है कि यदि किसी वंश के वंशजों को उनके पैतृक लाभ प्राप्त होते हैं तो उन वंशजों की बौद्धिक शक्ति का ह्रास हो जाता है। इस सामान्य नियम की उपेक्षा हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि सम्प्रदायाचार्यों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त समान रूप से जगत् के प्राणियों का कल्याण करते हैं। जीव मात्र को लक्ष्य में रखकर ही इन सिद्धान्तों का निर्माण होता है। किन्तु कालान्तर में मूल सिद्धान्तों की जगह पर अपसिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होनी शुरू हो जाती है। स्थिति यहाँ तक हो जाती है कि मूल सिद्धान्तों की जगह अपसिद्धान्त ही सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यदि उन मूल प्रवर्तक आचार्यों के समान ही कोई दूसरे आचार्य उस सम्प्रदाय में कुछ दिन बाद उत्पन्न हुए और उन्होंने मूल सिद्धान्तों और अपसिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करके एक नये सिद्धान्त का जन्म दे दिया तब तो वह सिद्धान्त जीवित रहता है, अन्यथा अगली पीढ़ी के लिए यही निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वे मूल सिद्धान्त क्या थे? और यह स्थिति किसी भी सम्प्रदाय

व धर्म के लिए बड़ी दुखदायी होती है। ऐसी ही स्थिति में सम्प्रदायों में रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। ऐसे सम्प्रदायों के पास समाज के बौद्धिक वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए सामग्री ही नहीं रह जाती और तब वे सम्प्रदाय अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर पतन की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं। तब मूल प्रवर्तक के वे दिव्य सिद्धान्त और उनके नाम से चलने वाला सम्प्रदाय दोनों दो चीजें हो जाती हैं। समाज का शिक्षत वर्ग मूल प्रवर्तक का सिद्धान्त मानने को तो तैयार हो जाता है, किन्तु उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय को वह स्वीकार नहीं करता, इस तरह कालान्तर में ऐसे सम्प्रदाय और सम्प्रदायों के ऊपर जीने वाले व्यक्ति इतिहास की वस्तु हो जाते हैं। उनका एकाधिकार सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है, किन्तु इस एकाधिकार के समाप्त होते ही उन पुरोहितों के वंशजों की आशातीत उन्नति होनी आरम्भ हो जाती है। उनमें अधिकाधिक ज्ञान का आलोक आता है। जिस एकाधिकार की रक्षा के लिए ये पुरोहित नाना प्रकार की सभायें, नाना प्रकार के संगठन करते हैं, वह एकाधिकार ही उनके वंशजों के पतन का कारण रहा है इस मौलिक सत्य को ये बेचारे भूल जाते हैं। इस सत्य को समझते हुए भी कि 'यह एकाधिकार ही सम्पूर्ण रोगों की जड़ है उसे व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण समाप्त नहीं करना चाहते। वास्तविकता तो यह होती है कि ऐसा कर सकना उनकी शक्ति से परे की बात रहती है और इस तरह वे और उनके अज्ञ अनुयायी रोग को समझ कर भी उसकी दवा करने में असमर्थ रहते हैं। धर्म के द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति का यही अपरिहार्य परिणाम होता है। इसीलिए भारतीय ऋषियों ने धर्म क्या है? सर्व प्रथम इस पर अच्छी तरह विचार किया। उनका कहना है जिससे मनुष्य के लोक और परलोक की सिद्धि होती है वह धर्म है। कहने का मतलब धर्म केवल परलोक की ही वस्तु नहीं है। हम जिस धर्म का पालन करते

हैं उससे हमारा यह लोक भी समुन्नत होना चाहिए। धर्म यदि केवल परलोक की बातें करता है तो उसे 'उधार धर्म' या 'धूर्तों का धर्म कहना चाहिए। इसलिए हमारे धर्म की पहली शर्त यह है कि वह हमारे इस लोक को उन्नत बनावे। इस लोक की उन्नति का केवल इतना ही अर्थ नहीं होता कि हम अधिक पैसा या अधिक यश, नाम या प्रतिष्ठा प्राप्त करें। धर्म के अनुष्ठान से यह सब तो होता ही है, किन्तु उसके साथ ही हमारी भौतिक इन्द्रियाँ भी हमारे मन अन्तः-करणादि भी अन्य पुरुषों की अपेक्षा उन्नत होने चाहिए। एक बालक को या पशु को सामान्य भोज्य वस्तुओं में जितना आनन्द आता है उतना आनन्द किसी वृद्ध पुरुष को नहीं आता। एक कुत्ता जब किसी वस्तु को खाने लगता है तब वह उसमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे बाह्य जगत का कुछ भी भान नहीं रहता। निष्कर्ष यह निकला कि अज्ञान के अनुपात के अनुसार ही विषयों में आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिए यदि विषयों से वैराग्य नहीं हुआ, विषयों में आनन्द बुद्धि बनी हुई है, तब हमारी लौकिक उन्नति हुई है अथवा हम धर्म के पथ के पथिक हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस तरह लौकिक उन्नति का अर्थ ही है विषयों के प्रति उपेक्षा या वैराग्य। जिस पुरुष की लौकिक उन्नति हो चुकी है अर्थात् विषयों से पूर्णरूप से विरक्त हो चुका है उसी की पारलौकिक उन्नति भी हो सकती है, ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इस तरह जो धर्म हमारे इसलोक को उन्नत बना सकता है वही हमारे परलोक को भी सिद्ध कर सकता है। धर्म केवल अलौकिक वस्तु नहीं है, वह अनुभव करने की वस्तु है, आचरण ही उसका प्रथम सोपान है। तोते की तरह कुछ बातें रट लेना और उसका कुछ लोगों को उपदेश कर देना बहुत सरल है और ऐसा कार्य आसानी से एक बालक भी कर सकता है, किन्तु धर्म के क्षेत्र में इतनी ही बातों से कार्य नहीं चलता। धर्म

श्रद्धा, तर्क या युक्ति भी नहीं है। धर्म का अर्थ होता है 'सत्य या ईश्वर का साक्षात्कार'। यह बात कठिन अवश्य मालूम पड़ती किंतु इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। जो लोग धर्म का अर्थ केवल उपदेश मात्र समझते हैं उन्हें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। प्रत्येक आदर्श धर्म के तीन भाग होते हैं। धर्म का पहला उसका दार्शनिक भाग होता है। इस दार्शनिक भाग में धर्म का मूल स्वरूप निहित रहता है। इस दार्शनिक भाग से ही पता चलता है कि उस धर्म के मूल प्रवर्तक आचार्य का अभिप्राय क्या था ? धर्म का दूसरा भाग होता है उसका पौराणिक भाग। इस पौराणिक भाग में स्थूल उदाहरणों के द्वारा दार्शनिक भाग की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों का सरल कथाओं द्वारा विवेचन किया जाता है। कभी-कभी इन कथाओं में काल्पनिक अति मानव जीवन का वर्णन रहता है। धर्म का तीसरा भाग वह स्थूल या आनुष्ठानिक भाग होता है, जिसमें पूजा, अनुष्ठान या आचार सम्बन्धी विविध क्रियाओं का निरूपण रहता है। समान रूप से ये तीनों भाग धर्म के उपयोगी होते हैं किन्तु दुर्भाग्य से जब कुछ धर्म या सम्प्रदाय धर्म के किसी एक अङ्ग को लेकर उसी में धर्म की पूर्णता समझ बैठते हैं तब धर्म में विकृति उत्पन्न हो जाती है। धर्म के ये विभिन्न अङ्ग एक दूसरे के पूरक होते हैं किन्तु धर्म की आत्मा उसका दार्शनिक अङ्ग ही होता है। उसी की पूर्ति या व्याख्या के लिये कालान्तर में शेष दोनों अङ्गों का निर्माण होता है। और जब धर्म के इन दोनों अंङ्गों का सम्बन्ध उसके दार्शनिक भाग से नहीं रह जाता है, उसका स्वरूप ही विकृत हो जाता है, इसी लिये धर्म के इस दार्शनिक अङ्ग की रक्षा करना प्रत्येक सम्प्रदाय का सर्वप्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। यह दार्शनिक भाग ही धर्म की आत्मा और उसका शाश्वत स्वरूप है। इसमें कभी विकार

उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। यह जीवात्मा की सनातन प्रकृति पर आधारित रहता है। धर्म का यह भाग ही जीवात्मा परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का निरूपण करता है और जीवात्मा किन साधनों के द्वारा अपने साध्य या लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है उसका स्पष्ट विवेचन भी हमें यहीं प्राप्त होता है। धर्म का आनुष्ठानिक भाग बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इसमें समय परिस्थिति और काल के आनुसार परिवर्तन होता रहता है। धर्म के ये स्थूल अनुष्ठानिक भाग कभी भी एक से नहीं रहते, इनका निर्माण ही बाह्य परिस्थितियों को आधार बनाकर किया जाता है। ये आनुष्ठानिक भाग उस सनातन सत्य के नियमों पर आधारित नहीं होते, जिनके आधार वेद और शास्त्र होते हैं। देखा तो यहाँ तक जाता है कि किसी सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक आचार्य ने जहाँ केवल भावनाओं का प्राधान्य रक्खा वहीं पर उनके परवर्ती उत्तराधिकारियों ने परिस्थितियों का अनुकरण कर भावनाओं की जगह क्रिया या अनुष्ठानों की प्रधानता कर दी। किन्तु छोटे मोटे इन बाह्य परिवर्तनों से धर्म के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। धर्म के स्थूल आनुष्ठानिक भाग कभी भी एक से नहीं रहते। उनमें समय के अनुसार हमेशा परिवर्तन होता रहेगा। इस परिवर्तन को या तो धर्माचार्य करते हैं या हठात् समाज स्वयं कर लेता है। धर्म के इस स्थूल भाग को ही धर्म का सर्वस्व समझ लेना एक भयङ्कर भूल होती है। धर्म के इस स्थूल भाग का सम्बन्ध विशेषकर आचार से रहता है। विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के आचार में स्थूल दृष्टि से मौलिक भेद रहते हुए भी उनमें एक प्रकार की एकता निहित रहती है। आचार का केवल एक मात्र लक्ष्य होता है मानव में पवित्रता का सम्पादन। आचारः प्रथमो धर्मः' आदि वाक्य इसी दृष्टि से कहे गये हैं। आचार का भी सर्वप्रमुख अङ्ग है आहार शुद्धि। इसलिये आहारशुद्धि या खाद्याखाद्य का

विचार भक्तों के लिये हमेशा ही बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। यद्यपि इसके वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण सभी सम्प्रदायानुयायी वास्तविकता से दूर जा पड़े हैं। आज इसका जो भी स्वरूप परिलक्षित होता है वह आचार का एक विकृत रूप मात्र है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि अन्य विषयों के समान ही इस सम्बन्ध में भी जो कट्टरता पैदा हुई है उसका कारण भी वे आचार्य नहीं हैं जिन्होंने खाद्याखाद्य विचार के महत्त्व को समझा था। यह भ्रान्ति तो बाद में चलकर उन पुरोहितों ने पैदा की, जिनका कार्य ही है सत्य को आवृत करना। इन लोगों ने धर्म को रसोई घर तथा छुआछूत के रूप में परिणित कर दिया। मालूम पड़ता है इनके धर्म से ज्ञान, वैराग्य और सच्चरित्रता का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ये लोग यह भूल जाते हैं कि इस शरीर की शुद्धि के साथ इस शरीर में रहने वाला मन भी है, उसकी शुद्धि होनी भी आवश्यक है। इसमें इन्द्रियाँ भी हैं और इसी के भीतर वह आत्मा भी है; जिसके साक्षात्कार के लिये शरीर शुद्धि आवश्यक होती है। अतः मन, इन्द्रिय और आत्मा में पवित्रता का सम्पादन ही शारीरिक शुद्धि का लक्ष्य है। सांख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व, रज और तम जिनकी साम्यावस्था प्रकृति है तथा जिसकी वैषम्यावस्था का परिणाम यह जगत् है; इन्हीं उपादानों से इस मानव देह का निर्माण होता है। इनमें सत्त्व की प्रधानता होने पर ही आध्यात्मिक उन्नति होती है। हम भोजन के द्वारा अपने शरीर में जिन उपादानों को ग्रहण करते हैं वे हमारे मन पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव डालते हैं। मन की पवित्रता से आत्मा की पवित्रता का गहरा सम्बन्ध है। इसी कारण छान्दोग्योपनिषद् में "आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा-स्मृतिः" कहा गया है। इस वाक्य की सभी सम्प्रदायाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु इससे लक्ष्य में

कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसका सामान्य अर्थ यही है कि आहार शुद्ध हो जाने से व्यक्ति का सत्त्व अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होने पर उस सत्पुरुष का यथार्थ ज्ञान या उसकी स्मृति प्राप्त होती है। वल्लभ सम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् और व्याख्याता गोपेश्वर जी महाराज 'ध्रुवास्मृतिः' का अर्थ पूर्व जन्म की स्मृति करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के शाङ्करभाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि आह्रियते इति आहारः शब्दादि विषय विज्ञानं भोक्तुः भोगाय आह्रियते, अर्थात् स्पष्ट ही शङ्कराचार्य को आहार शब्द जिसका अर्थ हम केवल भोजन समझते हैं अभीष्ट नहीं है। वे आहार शुद्धि का अर्थ करते हैं—आसक्ति, द्वेष, तथा मोह से रहित होकर विषय का ज्ञान प्राप्त करना। अतएव इस ज्ञान या आहार के शुद्ध हो जाने से अन्तः करण शुद्ध हो जाता है। इस तरह शङ्कराचार्य विषयानुभूतिरूप ज्ञान की शुद्धि को ही आहार शुद्धि कहते हैं। भगवान् रामानुजाचार्य ब्रह्मसूत्रों की टीका करते हुए कहते हैं कि भक्ति की प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष से होती है। विवेक का अर्थ करते हुए आप कहते हैं कि अन्य बातों के साथ ही भक्त के लिये खाद्याखाद्यका, विचार रखना बहुत ही आवश्यक है। खाद्य पदार्थ तीन कारणों से दूषित होते हैं। जाति दोष, आश्रय दोष और निमित्त दोष। जाति दोष का अर्थ है खाद्य वस्तु का प्रकृतिगत दोष। जैसे लहसुन प्याज इत्यादि। आश्रयदोष अर्थात् दुष्ट व्यक्तियों के पास से आने वाले अन्न का दोष। निमित्त दोष, जैसे धूल गंदगी या अपवित्र वस्तु के संसर्ग से होने वाला दोष। इनमें से किसी एक दोष से दूषित होने पर भी पदार्थ दूषित हो जाते हैं और उनके ग्रहण से मानव में अपवित्रता का संचार होता है। वल्लभ सम्प्रदाय के मतानुसार भगवान को समर्पित किये गये आहार के ग्रहण मात्र

से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है और भगवत् समर्पित आहार ही शुद्ध आहार है। इसलिये भक्त के लिये प्रथम शर्त इस शुद्ध आहार का ग्रहण करना है। भगवत् समर्पण के पूर्व आहार को अर्धभुक्त नहीं होना चाहिये। श्रीमद् वल्लभाचार्य के मतानुसार देव-देव भगवान् को अर्धभुक्त पदार्थ का समर्पण करना ही नहीं चाहिये। इससे दो बातें स्पष्ट मालूम पड़ती हैं, पहली तो यह कि किसी पदार्थ को जब हम भगवान् को समर्पण करना चाहें तब उस वस्तु में प्रारम्भ से ही हमें भगवद् बुद्धि रखनी चाहिये। दूसरी बात स्वसुख भावना से प्रेरित होकर किसी वस्तु का भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि हम ऐसी वस्तु को भगवान् को समर्पित करते हैं जिसमें जरा भी हमारी स्वसुख बुद्धि विद्यमान है तब वह वस्तु निश्चय ही अर्धभुक्त हो जाती है। इस तरह वल्लभ सम्प्रदाय में आहार शुद्धि का अर्थ है स्वसुख त्याग पूर्वक समस्त वस्तुओं का भगवान् को समर्पण करना। इसके लिये पहले बतलाए गये तीनों प्रकार के दोषों से आहार का रहित होना आवश्यक है। भगवद्दत्त प्रसाद ही या भगवद्भुक्त प्रसाद ही शुद्ध आहार है और इस प्रकार का शुद्ध आहार सेवन ही एकमात्र भगवत् प्राप्ति का साधक है, ऐसा पुष्टिमार्गीय आचार्यों का मत है। इसी बात को इस तरह कहा है :—

'त्वयोपभुक्त स्रग्गन्धवासोऽलंकार चर्चिताः
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तवमायां जयेमहि।'

विभिन्न आचार्यों के आहारविषयक मतों का अनुशीलन करने पर यह बात सहज ही ध्यान में आ जाती है कि आचार्यों का आहार-शुद्धि से जो तात्पर्य था उससे उनके अनुयायी कितनी दूर जा पड़े। आचार्यों के मतानुसार भले ही कोई व्यक्ति हमारा कितना ही आत्मीय क्यों न हो, चाहे हमारे वंश का ही क्यों न हो, किन्तु

यदि झूठ बोलता है, मिथ्याचरण करता है, तो उसके दृष्टिदोष या स्पर्शदोष से अन्न दूषित हो जाता है। ऐसा अन्न अग्राह्य है। किन्तु यदि कोई पवित्र शुद्ध सदाचारी भगवद्भक्त है तो वह भले ही किसी जाति या वर्ग का हो, उसके स्पर्श या दृष्टिपात से अन्न दूषित न होगा। इसीप्रकार जिनका हम अन्न ग्रहण करते हैं वे यदि अनुचित उपायों से द्रव्य अर्जन कर हमें अन्न या धन देते हैं तो वह अन्न भी आश्रयदोष से दूषित होने से दूषित है। उसे हम भले ग्रहण कर लें, किन्तु ऐसी वस्तु को भगवान् त्रिकाल में भी ग्रहण नहीं करेंगे, ऐसा आचार्यों का अभिप्राय है। ऐसे दूषित अन्न के ग्रहण का परिणाम होगा, हमारे अन्तः करण में अपवित्रता का संचार। इसीलिये भगवत् स्वरूप भगवद्भक्त आचार्यों ने हमेशा दैवी जीवों के द्वारा लाया हुआ सात्त्विक द्रव्य या अन्न का ही ग्रहण किया। किसी प्रकार की असावधानी से यदि दूषित द्रव्य आ गया तो उसे या तो तत्काल जल की धारा में प्रवाहित करा देते थे, अथवा जमीन में गड़वा देते थे। इसी प्रकार के खाद्याखाद्य विचार को धर्म का मूल या प्राण कहा गया है। स्मृतियों में "आचाराल्लभते धर्म, 'आचारादेवधनम्' आचारादेवसुखम्, आचारादेवमोक्षं प्रप्नुयात्' आचारो धर्मपालकः, आचारहीन .देहानां भेवद्धर्मः पराङ्मुखः" कहा गया है। आचार धर्मका शरीर है, और धर्म आचार का प्राण। इस तरह दोनों में हेतुहेतुमदभाव है। इतना ही नहीं, आचार को धर्म से भी ऊँचा स्थान आचार्यों ने दिया है, और यह युक्ति सङ्गत भी है। इस प्रकार का स्पशास्पर्श विवेक ही हमारे मन को उच्चावस्था में ले जाने में सहायक होता है। इस स्पर्शास्पर्श विवेक के द्वारा जितने सहज ढंग से हमारा अन्तःकरण पवित्र होता है, हमारा मन स्थिर होता है, दूसरे किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। पर देखना यह है कि हम इस रूपमें आचार को ग्रहण करते हैं ? स्थूल शरीर की

अपेक्षा मनका संयम करना निश्चय ही श्रेष्ठ है। किन्तु सूक्ष्म के संयम के लिये स्थूल का संयम भी परम आवश्यक है। परस्पर एक दूसरे का घनिष्ट सम्बन्ध है। इसीलिए आचार्यों ने भगवद्भक्तों को आचार सम्बन्धी नियमों का कड़ाई से पालन का आदेश दिया है। किन्तु दुर्भाग्य से इसके रहस्य को न समझने के कारण आचार्य परम्परा प्राप्त इस आचार प्रणाली का ही सर्वथा लोप हो गया। और उसकी जगह आचार सम्बन्धी ऐसे नियम कट्टरता से पालन किये जाने लगे जिनका न तो धर्म से सम्बन्ध है और न आचार से। किन्तु इसका उत्तरदायित्व उन आचार्यों पर सर्वथा नहीं है, जिन्होंने इस आचार परम्परा का प्रवर्त्तन किया था। समाज का बौद्धिक वर्ग इस प्रकार के कल्पित आचार को भी उपहासास्पद दृष्टि से देखता है। वह तुरन्त समझ लेता है कि इस प्रकार के आचार का सम्बन्ध नैतिकता से या चरित्र से कुछ भी नहीं है। यह केवल पुरोहितों का फैलाया हुआ पाखण्ड मात्र है और तब वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इसे उखाड़ फेंकना चाहता है। पुरोहित जो इसी को धर्म का सार समझ बैठा है समाज के दूसरे वर्ग को समझाने की चेष्टा करता है—अब धर्म नष्ट होना चाहता है। उसे यह समझ में ही नहीं आता कि वास्तविक धर्म को नष्ट करने की क्षमता विश्व की किसी भी शक्ति में नहीं है। तलवार के बल पर या अन्य किसी भी बल पर जब भी धर्म को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया, धर्म हिलता सा प्रतीत हुआ किन्तु जिस प्रकार भयंकर तूफान के पूर्व समुद्र के किनारे की लहरें पीछे हटकर पुनः हजार गुना शक्तिमती होकर लौटती हैं और सामने की सभी वस्तुओं को आत्मसात कर लेती हैं ठीक उसी प्रकार धर्म भी बड़े वेग से पुनः उठ खड़ा होता है और अपने विरोधियों को पचा जाता है। धर्म का वास्तविक स्वरूप जब ढक जाता है और काल्पनिक धर्म के द्वारा समाज का धार्मिक वर्ग जीवन यापन प्रारम्भ

कर देता है, तब ऐसा धर्माचरण करने वाला समाज अधिक दिनों तक टिक नहीं पाता, और यह समाज जितनी ही जल्दी नष्ट होगा धर्म का वास्तविक रूप प्रकट होगा। समाज का प्रबुद्ध वर्ग इस बात को अच्छी तरह समझता है। इस काल्पनिक धर्म की रक्षा के लिये पुरोहित राज्य शासन का भी समर्थन प्राप्त करना चाहता है। इतिहास से पता चलता है कि कितने ही धर्म अपने स्वरूप से च्युत् हो जाने पर भी राज्य शासन के कारण ही बहुत दिनों तक जीवित रहे। श्रमण और ब्राह्मण धर्म इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। यह बात ध्यान में रखने की है कि केवल काल्पनिक धर्म का ही विनाश होता है और इसके नष्ट होते ही धर्म का वास्तविक स्वरूप अपने सच्चे रूप में प्रकट हो जाता है। धर्म का बाह्य स्वरूप या स्थूलस्वरूप जिसे हमने आचार शब्द से सम्बोधित किया है इसमें समय-समय पर परिवर्तन परिवर्धन होता रहता है और होता रहेगा। देश, काल और परिस्थितियां ही इसके मुख्य कारण है। जब कोई मुझसे कहता है कि पुष्टिमार्ग भूतल पर केवल पांच सौ वर्ष रहेगा ऐसा आचार्य कह गये हैं तब मानो वह व्यक्ति ऐसा यह समझ कर कह रहा है कि पांच सौ वर्ष पूर्व न तो पुष्टिमार्ग भूतल पर था और न पांच सौ वर्षों के बाद भूतल पर रहेगा। मैं पहले कह चुका हूँ कि सम्प्रदाय अनादि होते हैं और अनन्त काल तक रहते हैं। भगवत् कृपा क्या पांच सौ वर्ष पूर्व जीवों पर नहीं होती थी, क्या पांच सौ या पांच हजार वर्ष बाद भगवत् कृपा के अधिकारी जीव भूतल पर न रहेंगे? क्या श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों के पूर्व पुष्टिमार्गीय जीव नहीं हुए हैं। प्रत्येक साम्प्रदाय की आत्मा अमर होती है, उसका स्थूल शरीर परिवर्तनशील होता है, जब कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि पूर्वाचार्यों द्वारा प्रवर्तित यह सम्प्रदाय पाँच सौ वर्ष ही भूतल पर रहेगा, तब उन सूक्ष्मदर्शी आचार्यों का अभिप्राय केवल यह होता है कि देश,

काल और परिस्थितियों के अनुसार सम्भव है, जिस रूप में आज सम्प्रदाय का बाह्य रूप विद्यमान है, पांच सौ वर्षों बाद उसमें परिवर्तन हो जावे। सम्प्रदाय का बाह्य रूप भले ही परिवर्तित हो जावे किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह सम्प्रदाय ही हमेशा के लिये समाप्त हो जावेगा। धर्म या सम्प्रदाय नष्ट और उत्पन्न होते ही नहीं, ये शाश्वत सत्य हैं, ये हमेशा विद्यमान रहते हैं। समय-समय पर इन दिव्य सिद्धान्तों का साक्षात्कार ऋषिगण करते रहते हैं। भावी पीढ़ी को शङ्का की दृष्टि से देखना, वृद्ध अनुभवी पुरुषों का स्वभाव है। आज विज्ञान ने जिन सिद्धान्तों का आविष्कार किया है क्या वे सिद्धान्त अपने आविष्कार के पूर्व न थे? या जब इन सिद्धान्तों के जानने वाले व्यक्ति न रहेंगे तब क्या ये सिद्धान्त न रहेंगे? ये सिद्धान्त अपने वास्तविक रूप में बराबर विद्यमान रहते हैं। ठीक यही बात धर्म या सम्प्रदाय के ऊपर भी लागू रहती है। जब सम्प्रदाय के अनुयायी बहिर्मुख हो जाते हैं तब काल अवश्य ही उन्हें खा जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह धर्म या सम्प्रदाय ही नष्ट हो जाता है। सनातन सत्य के नष्ट या परिवर्तित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। धर्म के जिस स्थूल भाग में परिवर्तन होता है यदि परिवर्तन न किया जाय तो समाज का जीवन ही असम्भव हो जाय। हम पहले लिख चुके हैं कि यह परिवर्तन चाहे मानव प्रकृति करे, समाज करे या धर्माचार्य करें, किन्तु परिवर्तन अपरिहार्य है। जैसे-जैसे समय बीतता जावेगा पुरानी परम्परायें, रीतियाँ अपने आप बदलती जावेंगी। प्राचीन स्मृतियों की जगह नूतन स्मृतियों का निर्माण स्वतः होगा। यदि देश के दुर्भाग्य से समय पर ऋषियों ने इन स्मृतियों का निर्माण न किया तो समाज स्वयं कर लेगा। आधुनिक युग में अम्बेडकरस्मृति (हिन्दूकोड बिल) का निर्माण समाज की इसी आवश्यकता का परिणाम है।

हमारे धर्माचार्य यदि समय रहते समाज की आवश्यकतानुसार उसके उचित कर्त्तव्य का निर्देश किये होते तो इस स्मृति का निर्माण अम्बेडकर द्वारा कभी न हुआ होता। आदर्श धर्म या सम्प्रदाय केवल बाह्य ढांचे पर आधारित नहीं होते। वे उस दार्शनिक दृढ़ भित्ति पर स्थिर रहते हैं कि इन तमाम बाह्य परिवर्तनों के होने पर भी उनके स्वरूप पर आंच नहीं आती। जहाँ एक भावुक व्यक्ति के हृदय के पोषण की सामर्थ्य इनमें विद्यमान रहती है वहीं आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासा वाले व्यक्ति को सन्तुष्ट करने की क्षमता भी इनमें विद्यमान रहती है। हृदय के साथ ही बुद्धि को सन्तुष्ट करना धर्म की प्रकृतिगत विशेषता है। धर्म केवल कोरी ज्ञान की बातें नहीं करता वह हार्द-वृत्ति के द्वारा उस परमतत्त्व का साक्षात्कार भी करना चाहता है। इस तरह विभिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों को उनके योग्य खाद्य सामग्री प्रस्तुत करना धर्म या सम्प्रदाय का आवश्यक कार्य है। ऐसा ही धर्म या सम्प्रदाय समाज के लिये उपयोगी होता है। धर्माचार्यों में शङ्कर जैसा मस्तिष्क और रामानुज जैसा हृदय होना चाहिये। यदि ज्ञान की पराकाष्ठा अद्वैत में है तो निश्चय ही हृदय की पूर्ण अभिव्यक्ति रागानुगा भक्ति में। श्रीमद् वल्लभाचार्य में हम शङ्कर जैसा मस्तिष्क और रामानुज जैसे हृदय का समन्वय एक साथ पाते हैं। ज्ञान और भक्ति, दोनों की चरम पराकाष्ठा, दोनों का पूर्ण स्वीकार। ऐसे व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ही वास्तविक सिद्धान्त हो सकते हैं। पर क्या हम आचार्य द्वारा प्रदत्त उस विरासत को सुरक्षित रख सकें हैं? इसके लिए हमें आत्मविश्लेषण करना होगा। पुष्टिमार्ग के समस्त सिद्धान्त जिनका प्रचार आचार्यों ने किया वे वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता तथा श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों पर आधारित हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने उन्हें सर्वथा प्रमाण स्वरूप माना है। इसके विरुद्ध यदि कोई कुछ भी किसी का कथन

हो तो वह सर्वथा अप्रामाणिक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों ने किया है। समय और कालप्रवाह के कारण शास्त्रों के ऊपर एक प्रकार का जो आवरण आ गया था जिसके परिणाम स्वरूप उनके अर्थों को समझने में लोगों को भ्रम हुआ था उसे आचार्य चरणों ने दूर कर दिया। यदि किसी नवीन वस्तु का निर्माण करना किसी परम मेधावी चतुर कलाकार का कार्य है तो उससे भी अधिक बुद्धि की आवश्यकता होती है किसी प्राचीन जीर्ण शीर्ण वस्तु को नूतनता प्रदान कर उसे समाज के कार्य के उपयोगी बना देना यही कार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों ने किया था। किन्तु आज पुनः आचार्य चरणों द्वारा प्रवर्तित उन दिव्य सिद्धान्तों पर आवरण पड़ गया है। यदि कोई वैसे ही प्रतिभाशाली महापुरुष प्रकट होकर उन दिव्य सिद्धान्तों पर पड़े आवरण को दूर कर दें तो निश्चय ही वे सिद्धान्त आज भी पथ भ्रान्त मानवता का कल्याण कर सकते हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि किस प्रकार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों पर सम्प्रदायों का पौराणिक भाग छा जाता है और वह उसे समाप्त कर देता है। किन्तु सौभाग्य से वैदिक धर्म की यह विशेषता रही है कि धर्म के ये तीनों भाग प्रारम्भ से ही अत्यन्त स्पष्ट और अलग रहे हैं। फिर भी धर्म का पौराणिक भाग अत्यन्त प्रभावशाली होता है। इसका सम्बन्ध समाज के उस सामान्य वर्ग से रहता है जो धर्म के दार्शनिक भाग को समझने में सर्वथा असमर्थ रहता है। इस पौराणिक भाग के द्वारा ही यह वर्ग दर्शन के ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों को समझने में सफल होता है। किन्तु कालान्तर में जरा सी असावधानी होते ही यह पौराणिक भाग ही दार्शनिक भाग को निगल जाता है और कुछ काल के पश्चात् ये दार्शनिक सिद्धान्त लुप्त हो जाते हैं किसी भी सम्प्रदाय या धर्म के लिए यह अवस्था

अत्यन्त घातक सिद्ध होती है। समाज का सामान्य वर्ग यह भूल जाता है कि धर्म का यह पौराणिक भाग केवल उन दार्शनिक सूक्ष्म सिद्धान्तों की व्याख्या मात्र है ये स्वयं में सत्यघटना या सत्य कथानक नहीं हैं। यद्यपि इनमें धर्म के ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों का निरूपण है फिर भी ये स्वयं में सत्य नहीं हैं। सामान्य जन उन्हें सत्य समझकर धर्म के वास्तविक रूप से दूर हटते जाते हैं। कितने आश्चर्य की बात है, कि जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए उनकी रचना हुई वे ही उन सिद्धान्तों को आत्म सात कर जाते हैं। समान्यवर्ग गाथाओं में वर्णित उन काल्पनिक अतिमानव चरित्रों को सत्य समझकर और स्वयं को उस आदर्श तक पहुँचने में असमर्थ पाकर अवसाद और निराशा से ग्रस्त हो जाता है। फिर भी वे अपना आदर्श उन्हें केवल इस लिए स्वीकार किये रहते है कि उन्हें यह विश्वास रहता है कि ऐसा करके हम धार्मिक बनें रह सकते हैं। वे समझते हैं कि इस आदर्श अतिमानव चरित्र पर से यदि हम विश्वास उठादें तो उसी क्षण हम धर्म और ईश्वर दोनों से रहित हो जावेंगे वे अतिमानव ही उनके लिए सब कुछ हो जाते हैं और इस तरह धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की जगह काल्पनिक, अतिमानव के चरित्रों की प्रतिष्ठा हो जाती है और वे दार्शनिक सिद्धान्त भी किसी व्यक्ति विशेष पर आधारित हो जाते हैं। जब धर्म व्यक्ति विशेष पर आधारित हो जाता है तभी साम्प्रदायिकता और दलबन्दी को प्रश्रय मिलता है। प्रायः संसार के सभी धर्म किसी न किसी व्यक्ति विशेष पर आधारित हैं किन्तु वैदिक धर्म इन धर्मों की भाँति किसी खास पैगम्बर या व्यक्ति विशेष द्वारा प्रचलित होने का दावा नहीं करता। वैदिक धर्म की दृष्टि में व्यक्ति विशेष अज्ञात हैं। वैदिक धर्म सिद्धान्तों पर आधारित है जब कोई धर्म व्यक्ति विशेष पर आधारित हो जाता है तब

नीश्चित हि उसे वैदिक धर्म नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति विशेष मानव की चेतना उसके मानसिक संवेग को क्षण भर के लिये उत्तेजित कर सकते हैं। किन्तु इन संवेगों का सम्बन्ध मानव की बुद्धि की अपेक्षा उसके हृदय तथा इन्द्रियों से अधिक रहता है। मनुष्यका यह संवेग उसे देवता और पशु दोनों श्रेणियों में ले जा सकता है। यदि इन संवेगों का सम्बन्ध सिद्धान्त से नहीं रह जाता तो निश्चय ही ये उसे पशु श्रेणी तक पहुचा देते हैं तब ऐसे धर्म का उयद होता है, जो मानवता के विनाश का पथ प्रशस्त करता है। उसका सम्बन्ध न तो ईश्वर से होता है और न सम्प्रदाय से। इसीलिए धर्मको आचार्यों ने व्यक्ति विशेष की वस्तु नहीं बनने दिया। भले ही विभिन्न धर्मों के विभिन्न आदर्श हों, किन्तु वास्तविक धर्म वही हो सकता है जो हमें बन्धन से मुक्ति की तरफ ले चले। संसार के बहुत से धर्मों का उच्चतम आदर्श यह संसार ही है और उनका कहना है कि अधिक से अधिक व्यक्तियों को उन्नत बना देना उन्हें, सुखी बना देना, बस यही धर्म है और उनकी परिभाषा के अनुसार सम्पूर्ण उन्नति तथा सुख इन्द्रियों की तृप्ति में है। किन्तु वैदिक धर्म इसे मानने को प्रस्तुत नहीं है। यदि इन्द्रिय सुख भोग हो मानव जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया जावे, तब तो मनुष्य शरीर प्राप्त करना ही बड़ी भारी भूल हुई है। क्योंकि इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति जितनी पशु शरीर में हो सकती है उतनी मानव शरीर में कभी हो ही नहीं सकती। आहार तथा विषयोपभोग की जितनी छूट और शक्ति पशुओं में विद्यमान है, क्या वैसी शक्ति मानव में सम्भव है? और तब इसे धर्म कैसे कहा जा सकता है? प्राणी जितना ही निम्न श्रेणी का होगा उसका इन्द्रिय सुख भी उतना ही अधिक होगा। सभ्यता जितनी ही नीची होती है प्राणियों के इन्द्रियों की शक्ति भी उतनी ही अधिक होती

है। जीव जितना ऊँचा होता जावेगा, इन्द्रिय सुख का आकर्षण भी उतना ही कम होता जावेगा। अज्ञानी व्यक्ति को भोजन में जितना आनन्द प्राप्त होता है उससे सहस्र गुना अधिक आनन्द तत्त्वदर्शी को आध्यात्मिक चर्चा में। आध्यात्मिक चिन्तन के आनन्द को एक विषयी अज्ञानी व्यक्ति कभी समझ ही नहीं सकता। वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझकर ही धर्म का उच्चतम आदर्श ज्ञान या मोक्ष स्वीकार किया है। मनुष्य अन्य किसी वस्तु से सन्तुष्ट कभी हो ही नहीं सकता। तब सहज ही यह स्वीकार करना पड़ता है कि उस मुक्तावस्था को प्राप्त करना या उस तक पहुँचना ही धर्म है। यह जगत् यदि हमें उस लक्ष्य की तरफ बढ़ने में सहायता प्रदान करता है तो निश्चय ही हमें यह अभीष्ट होना चाहिये, अन्यथा जगत् भी हमारे लिए अनिष्टकर हो सकता है। इतना ही नहीं हमारी सम्पत्ति, विद्या तथा सौन्दर्य सभी कुछ उस लक्ष्य प्राप्ति के साधक होने चाहिये, इन्हें साध्य समझ लेना बड़ी भारी भूल है। इस तरह वैदिक ऋषियों की दृष्टि में जीव अपने को शरीर न समझकर आत्मा समझे यही वास्तविक धर्म है। यदि हमने यह अनुभव न प्राप्त कर लिया तो निश्चय ही हमारे धर्मात्मा होने का कुछ भी अर्थ नहीं। यदि जिस भावना से चीखता और चिल्लाता हुआ पशु मरता है, मानव होकर भी हम उसी प्रकार मरते हैं, तो हमारा अपने को धार्मिक कहना पाखण्ड मात्र है। पशु भी अपने को जड़ शरीर मात्र समझता है और तुम भी यदि अपने को नष्ट होने वाला शरीर मात्र समझ रहे हो तो निश्चय ही तुममें और उस पशु में कोई अन्तर नहीं है। अपने को धार्मिक समझते हुये भी आप उस पशु से किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते। धार्मिक होने के लिये आपको अपने को आत्मा के रूप में अनुभव करना होगा। तर्क के द्वारा नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा

और बस यही धर्म है। पहले इस धर्म को सुनना होगा, यदि सुन लिया है तो इस पर विचार करें, यदि विचार कर लिया है तो ध्यान करें, तभी धर्म का या ईश्वर का दर्शन होगा। आपको उस वस्तु की उपासना करनी होगी जो कभी परिवर्तित नहीं होती। आपको यह समझ लेना होगा कि हम जिस सुख को दूसरों के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं वह सुख मुझमें स्वयं में विद्यमान है। हमारे अतिरिक्त और कोई भी वस्तु स्थायी और नित्य नहीं है। यह समझ लेना ही वास्तविक धर्म है। इसी धर्म की व्याख्या दर्शन अपने ढंग से प्रस्तुत करता है और वार्तायें तथा नाना प्रकार की गाथायें इसी धर्म को मनोरम कथानक के द्वारा प्रस्तुत करती हैं। धर्म का यह पौराणिक भाग विकृत होकर दर्शन को समाप्त न कर दे इसके लिये सम्प्रदाय के विद्वानों को सतत जागरूक रहना पड़ता है। जब दुर्भाग्य से समाज का अज्ञ वर्ग इन विद्वानों का समादर करना बन्द कर व्यक्ति विशेष को धर्म का स्तम्भ समझ उसकी पूजा शुरू कर देता है, तब इन पवित्र निष्कपट व्यक्तियों की धार्मिक भावनाओं को आसानी से उत्तेजित कर वे पाखण्डी पुरोहित अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और इस तरह क्षणिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये उन दिव्य सिद्धान्तों का सर्वथा के लिये बलिदान कर देते हैं, जिन पर धर्म या सम्प्रदाय टिके रहते हैं। शताब्दियों के इसी प्रकार दृढ़ कुसंस्कारों से कुसंस्कृत होते रहने से इन पवित्र भोले व्यक्तियों की दार्शनिक सिद्धान्तों के समझने की क्षमता भी नहीं रह जाती। यद्यपि ये अपने को सम्प्रदायानुयायी समझते हैं, किन्तु वास्तविकता यह होती है कि इनका सम्प्रदाय और धर्म से कोई नाता ही नहीं रह जाता। ये उन अज्ञानी पुरोहितों से चिपके रहना ही धर्म समझते हैं। इनका अज्ञान इस स्थिति तक दृढ़ रहता है कि यदि हम इन पुरोहितों से अलग हुए तो धर्म और ईश्वर दोनों से च्युत् हो जावेंगे।

जीवनभर धर्म का नाम लेने पर भी ये विचारे यही नहीं समझपाते कि धर्म और ईश्वर केवल मनोरञ्जन की वस्तु नहीं हैं, अपितु जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में जाते ही शरीर में दाह उत्पन्न होता है ठीक उसी प्रकार धर्म और ईश्वर के छींटे मात्र से जीव में अनन्त वैराग्य, ज्ञान, यश और श्री का आविर्भाव हो जाता। मानव ईश्वर से सम्बन्धित होने पर सहज देशज और काल से उत्पन्न होने वाले दोषों से संक्रमित नहीं होता। सहज दोषों से क्या हम निवृत्त हुए हैं ? इसपर विचार करने की वे आवश्यकता ही नहीं समझते, इनमें धर्मान्धता नामक ऐसी बीमारी और पागलपन छा जाता है कि ये सत्य का श्रवण करते ही अत्यन्त खूंखार हो उठते हैं। इनका चेहरा विकृत हो जावेगा और एक शेर जैसी क्रूरता का निदर्शन इनके चेहरे पर होगा। धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझने के ये सब अवश्यम्भावी परिणाम हैं। यद्यपि ये भोले व्यक्ति बड़े ही निष्कपट और पवित्र होते हैं, किन्तु जब ये पूरी भावुकता के शिकार हो जाते हैं तब इनकी वह पवित्रता दुष्टता में परिणत हो जाती है। तब वे दार्शनिक सिद्धान्त हमेशा के लिये इनसे ओझल हो जाते हैं। कोई भी विवेकी विद्वान् इनके सामने उन सत्य सिद्धान्तों की चर्चा नहीं करेगा, जिन सिद्धान्तों पर धर्म या सम्प्रदाय आधारित हैं। अपितु वह भी इन्हें सन्तुष्ट करने के लिये ऐसी ही बातें करेगा, जिससे उसकी जीविका में किसी प्रकार की क्षति न हो, और धीरे-धीरे धर्म सम्बन्धी भ्रान्तियां भी बढ़ती जायेंगी। किन्तु कितनी ही भ्रान्ति या अज्ञान क्यों न बढ़े, धर्म का स्वरूप कुछ काल के लिये भले ही आवृत हो जाय; धर्म नष्ट नहीं होता। जहाँ इतिहास की पहुँच नहीं है ऐसे सुदूर अतीत काल में भी हम देखते हैं कि धर्म सम्बन्धी मानव जिज्ञासा विद्यमान है। मानव यद्यपि सांसारिक विषयभोगों में आसक्त है, पञ्चेन्द्रियग्राह्य जगत् से चिपटा हुआ है,

फिर भी उसके अन्तस्तलसे एक प्रश्न वाचक चिन्ह निकल ही पड़ता है। क्या यह जगत् सत्य है? क्या हम सत्य हैं? और क्या इस जगत् और इसके साथ जो हमारा सम्बन्ध है वह सत्य है? कठोपनिषत् के प्रारम्भ में ही हम देखते है कि यह प्रश्न इसी रूप में उपस्थित है।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

अर्थात् कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य के मरने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और कुछ लोग कहते हैं, नहीं, उसका अस्तित्व फिर भी बना रहता है। बस इसी प्रश्न के समाधान के लिये धर्म और दर्शन की उत्पत्ति हुई है। सभी दर्शन इसका उत्तर अपने अपने ढंग से देते हैं। किन्तु मैं समझता हूँ जब तक मृत्यु है तब तक यह प्रश्न बराबर बना रहेगा और जब तक यह प्रश्न बना रहेगा तब तक धर्म और दर्शन का उपयोग भी मानव करता रहेगा, भले ही चाहे उसके वास्तविक स्वरूप को समझकर करे या बिना समझे। हम वर्तमान से सन्तुष्ट होने का कितना भी प्रयत्न करें, किन्तु मृत्यु का एक ही थपेड़ा हमारी मान्यताओं को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यहाँ का सब कुछ सत्य और शाश्वत है, किन्तु विचार करते ही प्रत्येक वस्तु की निस्सारता मालूम पड़ने लगती है। भोग विलास, ऐश्वर्य, वैभव, सुख-दुख, सभी कुछ तो क्षणिक हैं। यहाँ तक कि यह मानव जीवन भी क्षणिक ही है, जो भूत और भविष्य को अस्वीकार कर केवल वर्तमान से ही सन्तुष्ट रहना चाहते हैं उन्हें बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता। भगवान् बुद्ध का वर्तमान बहुत ही समुज्जवल था। राज्य का ऐश्वर्य अतुलित भोग युवावस्था सब कुछ तो था, किन्तु अन्तस्तल के बस इसी एक प्रश्न से कि यदि मैं स्वयं नष्ट होने वाला हूँ तो इस वर्तमान का क्या

अर्थ ? उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि इस संसार के हास्य और आनन्द में भी एक भयंकर जलन है। और उन्होंने उस मूल प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ लिया, उन्होंने निश्चय कर लिया कि सब कुछ शून्य है, हम भी शून्य हैं, जगत् भी शून्य है किन्तु उनका यह उत्तर मानव को निराशा की तरफ ले जाता है। कोईभी व्यक्ति अपने समुन्नत वर्तमान को इस आशा से छोड़ने को प्रस्तुत हो सकता है कि हमारा भविष्य इससे भी समुन्नत होगा किन्तु बौद्ध दर्शन के पास इसका उत्तर कुछ भी नहीं है। इस प्रश्न का एक दूसरा भी उत्तर है। जो कहते हैं कि इस नित्य परिवर्तनशील जगत् के भीतर ही एक ऐसी भी वस्तु है जो कभी परिवर्तित नहीं होती। इन समस्त विकारों के होते हुए भी वह अविकृत रहती है। इस अविकृत वस्तु के ही ये समस्त विकार हैं। इस भौतिक शरीर के भीतर एक ऐसा अभौतिक तत्त्व विद्यमान है जो त्रिकाल में भी नष्ट नहीं होता। जिसे न तो अग्नि जला सकता है, न शस्त्र काट सकता है, न पानी डुबा सकता है और न तो वायु शोषण कर सकता है। न वह वृद्ध होता है, न रुग्ण होता है। न मरता है, न पैदा होता है, हर्ष, शोक सबसे वह रहित है जब तक इस तत्त्वका साक्षात्कार न कर लिया जावे तब तक जीवात्मा कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। वह तत्त्व क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? समस्त वैदिक दर्शनों का लक्ष्य या प्रतिपाद्य बस एक मात्र यही तत्त्व है। इन वैदिक दर्शनों में भी परस्पर इस तत्त्व के विषय में मतभेद है। फिर भी कुछ बातों में उनमें परस्पर अद्भुत साम्य है। ये सभी दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं वह आत्मा स्वभाव से ही पूर्ण और पवित्र है, उसमें समस्त शक्ति पहले से ही विद्यमान रहती है। केवल चार्वाक और बौद्ध इसके अपवाद हैं। बौद्ध वस्तु विशेष को आत्मा मानने को प्रस्तुत नहीं हैं और जो 'दर्शन' वस्तु विशेष को आत्मा स्वीकार करते हैं उनके साथ बौद्धों का भयङ्कर

मतभेद है। यहाँ यदि इसकी संक्षेप में भी चर्चा की जावे तो इस लघु निबन्ध का कलेवर बहुत बड़ा हो जावेगा। इस पर हमने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "वल्लभ सम्प्रदाय में मधुर रस" पर विस्तार से विचार किया है। यहाँ तो संक्षेप में पाठकों को हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि श्रीमद् वल्लभाचार्य के इस तत्त्व सम्बन्धी विचार क्या हैं? श्रीमद् वल्लभाचार्य अपने 'तत्त्वदीप निबन्ध' नामक ग्रन्थ के शास्त्रार्थ प्रकरण में ब्रह्म के स्वरूप का विचार करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। वह व्यापक नाशरहित तथा सर्वशक्तिमान है। वह स्वतन्त्र सर्वज्ञ और सर्व गुणों से युक्त है। आगे चलकर इसी ग्रन्थ में आचार्य कहते हैं कि 'ब्रह्म हजारों नित्य गुणों से युक्त है। वह सजातीय, विजातीय और स्वगत द्वैत वर्जित है। यद्यपि वह अविभक्त और अनादि है तथापि अपनी इच्छा मात्र से विभक्त होने वाला भी है। वह सम्पूर्ण जगत् का आधार है। माया को अपने वश में रखने वाला आनन्दाकार और सम्पूर्ण प्रपञ्च पदार्थों से अलग है। इस जगत् का वही समवाय तथा निमित्त कारण है। अपने स्वरूप तथा अपनी लीला में वह नित्य मग्न रहता है। जिसे शास्त्रों में 'परब्रह्म' कहा गया है, उसी को आचार्य पुरुषेश्वर या पुरुषोत्तम कहते हैं। जहाँ, जिससे, जिसके लिये, जिस सम्बन्ध द्वारा, जब भी, जो कुछ वह होता है, सब कुछ स्वयं भगवान् ही हैं। वह चल और अचल ज्ञेय और अज्ञेय, अनन्त और सान्त दोनों प्रकार के हैं। निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं। निर्धर्मक होते हुए भी सधर्मक हैं, गोचर होते हुए भी अगोचर हैं, ज्ञेय होते हुए भी अज्ञेय हैं। आचार्य कहते हैं, यद्यपि परमात्मा जगत् कर्त्ता है फिर भी निर्गुण है। उस ब्रह्म में आविर्भाव तिरोभाव नामक एक शक्ति विशेष रहती है, जिसके कारण वह एक से अनेक तथा अनेक से एक होता रहता

है। ब्रह्म से ही पदार्थों का आविर्भाव तथा ब्रह्म में ही उनका तिरोभाव होता है और अन्त में वही एक ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्'

इस भगवत् वचन के अनुसार आदि और अन्त में वह एक ही रह जाता है।

मध्य में भी जो कुछ प्रतीत होता है वह सब कुछ भगवान् ही हैं। हम अपनी इन्द्रियों से, मन से, जो कुछ भी ग्रहण करते हैं वह सब कुछ भगवान् ही हैं और इस तरह यह प्रतीत होने वाला जगत् भी निश्चय ही भगवान् है। यही उत्तम प्रतीति है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यही श्रुति सिद्धान्त भी है। आचार्य कहते हैं कि यह प्रतीत होने वाला जगत् भगवान् के समान है। यह तो मध्यम पुरुषों की प्रतीति है। यह जगत् भिन्न है और भगवान् भिन्न हैं, ऐसी प्रतीति कनिष्ठ या हीनाधिकारियों को होती है। श्रीमद् वल्लभाचार्य के मतानुसार इस दृश्यमान जगत में भगवान के अतिरिक्त और कुछ भी देखना महान् अपराध है। सुनने में यह बात बड़े आश्चर्य की प्रतीत होती है किन्तु आचार्य शास्त्रों के प्रमाण को उपस्थित करते हुए कहते हैं कि भगवान् ही जगत् के समस्त पदार्थों में सच्चिदानन्द रूप से विद्यमान हैं। हम प्रत्येक क्षण भगवान् का ही स्पर्श करते हैं, भगवान् का ही दर्शन करते हैं, क्योंकि जगत् में भगवान् के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस विचार को हमें दृढ़ करना होगा। मैं समझता हूँ कि विश्व के किसी दूसरे दार्शनिक ने इतनी प्रगाढ़ आस्था के साथ जगत् को स्वीकार न किया होगा। आचार्य के मतानुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अपने आनन्द धर्म को तिरोहित कर जीव और जगत् के रूप में परिणित हो रहा है। किन्तु जब तक जीवात्मा में अहङ्कार और ममत्व विद्यमान है तब तक यह कभी भी इस सत्य का अर्थात् जगत् के वास्तविक स्वरूप

का दर्शन नहीं कर सकता। सच्चित् गणितानन्द अक्षर ब्रह्म से पूर्ण पुरुषोत्तम की इच्छानुसार अग्नि से चिनगारी के समान ब्रह्म के चिदंश से जीव तथा सदंश से जड़ जगत् की उत्पत्ति हुई। ब्रह्म की इच्छा ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्च सृष्टि का कारण है। जगत् यद्यपि अनेक रूपात्मक है फिर भी यह अनेक रूपता ब्रह्म के संदंश का ही परिणाम है। इस तरह यह जगत् ब्रह्मरूप ही है। इस भाव को आचार्य चरणों ने कई प्रकार से प्रकट किया है। यह जगत् माया के कारण प्रतीत हो रहा है, जैसा कि शाङ्करवेदान्ती मानते हैं, आचार्य मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।

'तदैवेतत् प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्'

वह अक्षर ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणित हो जाता है, यही श्रुति सिद्धान्त है। शङ्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, जीव की अनेकता तथा पृथक् सत्ता भ्रम या अविद्या के कारण प्रतीत होती है। वस्तुतः न तो जीव है और न जगत्। भ्रम निवृत्त होने पर सब जीव ब्रह्म ही हैं। सत्य केवल ब्रह्म मात्र है। किन्तु वल्लभ मत के अनुसार जीवों की अनेकता और उनकी पृथक् सत्ता तथा अंश रूप से उनकी स्थिति सत्य है। अवस्था विशेष में जीव और ब्रह्म की एकता भी है, किन्तु वे दोनों अवस्थायें ही सत्य हैं। शाङ्कर मत में जीव विभु है, किन्तु वल्लभ मत में अणु। इस कारण आचार्य ने तथा आपके अनुयायी भक्तों और शिष्यों ने शाङ्कर मत का खण्डन किया है, फिर भी अनेक बातों में शुद्धाद्वैत दर्शन अन्य वैष्णवाचार्यों के दार्शनिक मतों की अपेक्षा शाङ्कर मत के अधिक निकट है। श्रीमद् वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित जीव जगत् तथा ब्रह्म सम्बन्धी विचार पाश्चात्य सर्वेश्वर वाद से बहुत अधिक मिलता है। इतना अन्तर अवश्य है कि आचार्य ने उपनिषदों के सर्वेश्वर वाद को लिया है, जिसका

पाश्चात्य सर्वेश्वर वाद से बहुत अंशों में मत भेद भी है। पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद या (स्पिनोजा) का कहना है कि यह जगत् ईश्वर है इस लिए ईश्वर की प्राप्ति भी इस जगत में ही हो सकती है, है। इसलिये जगत् रूप ईश्वर की ही भक्ति करनी चाहिये। किन्तु जगत् से परे ईश्वर नामक कोई वस्तु नहीं है आचार्य की दृष्टि में ईश्वर इस जगत् और जीव रूप में तो है ही,, किन्तु इससे परे भी है और इससे भिन्न भी है। इसी प्रकार मायावादी शाङ्कर वेदान्त से भी जीव जगत् तथा ईश्वर विषयक आप के विचार भिन्न हैं। जगत् के विषय में शाङ्करवेदान्त का कहना है कि निर्गुण निराकार अव्यक्त ब्रह्म अपनी अनीर्वचनीय माया के सम्बन्ध से जगत् रूप विवर्त को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म का एक रूप माया से रहित है तथा दूसरा माया शबलित या माया से आक्रान्त। उस माया शबलित ब्रह्म में ही माया शबलित जीव को जगत् की भ्रान्ति होती है। अधिष्ठान सत्ता ब्रह्म है, जीव अज्ञान के कारण उसमें जगत् का आरोप करता है। अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त आरोपित की सत्ता होती ही नहीं। इस भ्रान्ति को ही विवर्त कहते हैं। कार्य जब कारण से विषम सत्ता वाला होता है तब उसे विवर्त कहा जाता है। इस विवर्त वाद के अनुसार जगत् का उपादान कारण माया है। जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति या सीपी में चाँदी की प्रतीति होती है और यह प्रतीति केवल भ्रान्ति मात्र है, उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत् भी केवल कल्पना या भ्रान्ति मात्र है। इनके मत के अनुसार अद्वितीय कूटस्थ ब्रह्म जगत् का उपादान कारण भी अधिष्ठान रूप से या विवर्त रूप से है। जिस तरह परमाणुओं में जगत् कारणता आरम्भकत्व रूप तथा प्रकृति में जगत् कारणता परिणाम रूप से मानी जाती है, उस प्रकार शाङ्कर वेदान्त ब्रह्म कोजगत् का उपादान कारण मानने को प्रस्तुत नहीं है, किन्तु बल्लभाचार्य जगत् के सम्बन्ध में अविकृत

परिणाम-वाद को स्वीकार करते हैं। परिणाम तथा परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं। अविकृत और विकृत।

अविकृत परिणामवाद उसे कहते हैं, जब कोई पदार्थ अपना रूप बदलने पर भी पुनः अपने पहले रूप में आ जावे, दूसरा विकृत परिणामवाद वह है जब परिवर्तित पदार्थ अपने पहले रूप में नआ सके। जैसे दूध का परिणाम दही होता है, किन्तु दही को फिर दुग्ध रूप में नहीं लाया जा सकता, किन्तु ऐसे पदार्थ जो कारण से कार्य रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, फिर भी उनमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता, वे पुनः कार्य से कारण रूप में परिणत हो जाते हैं। ऐसे ही परिणामी पदार्थ को अविकृत परिणाम कहा जाता है। जैसे सुवर्ण की डली से नाना प्रकार के आभूषण बनाये जाते हैं, किन्तु वे आभूषण सुवर्ण की डली से भिन्न प्रतीत होने पर भी गलाये जाने पर पुनः सुवर्ण रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार आप के मत में यह जगत् शुद्ध ब्रह्म का ही अविकृत परिणाम है और पुनः लीन होकर शुद्ध ब्रह्म ही हो जावेगा। सभी तैजस-पदार्थ अविकृत रहकर ही परिणाम को प्राप्त होते हैं। इस तरह इस जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण भी ब्रह्म ही है।

जगतः समावायिस्यात् तदेव च निमित्तकम्

(त० दी० नि०)

इसी विचार को आपने अपने ब्रह्म सूत्रों के भाष्य में भी प्रकट कियाहै। जैसे' ननु ब्रह्म जगत्कारणमिति सिद्धम्, तच्च समवायिनिमित्तचेति कारण धर्मा एव हि कार्ये भवन्ति इत्यादि।

इसे एक उदाहरण से समझ लेना अच्छा होगा। जैसे मकड़ी अपनी इच्छा से तन्तु निकालती है, उसमें रमण करती है तथा उसे पुनः अपने मुख में प्रविष्ट कर लेती है, उसी तरह शुद्ध ब्रह्म ही जगत् रूप में अविकृत परिणाम को प्राप्त होता है। श्री मद्भगवद्गीता में

हम इसी अविकृत परिणाम वाद को पाते हैं। भगवान कहते हैं कि धनञ्जय ! सम्पूर्ण जगत् का मैं ही प्रभव तथा प्रलय करता हूं। मुझसे परे तथा मेरे सिवाय और दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। यह सम्पूर्ण जगत् धागे में पिरोई हुई मणि के सामान मुझमें ही गुथा हुआ है। इस तरह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ, ब्रह्म से ही परिपूर्ण है ब्रह्म ही इसका करण कारण सब कुछ है। कार्य और कारण दोनों में अनन्यत्व रहता है। कार्य जगत् और कारण ब्रह्म दोनों ही सत्य हैं और इसी बातको अपने ग्रन्थों में आचार्य चरण जगह-जगह स्पष्ट करते है। हाँ, जगत् और संसार में आप भेद अवश्य स्वीकार करते हैं। जैसे—

प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो मायया भवत्।
तच्छक्त्याविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते॥

अर्थात् यह प्रपञ्च (जगत) भगवत् कार्य है और भगवान की माया नामक शक्ति से बना है। इसी माया की अविद्या नामक शक्ति के सहारे जीव संसार को बनाता है। इस तरह जगत् ईश्वरकृत होने से सत्य है, क्योंकि यह एक सत्य तत्त्व का ही अविकृत परिणाम है तथा संसार जीव अपने अज्ञान के कारण बनाता है। इस प्रकार संसार का उपादान कारण मिथ्या या अज्ञान है, इसलिये संसार असत्य है। दूसरे शब्दों में संसार का उपादान कारण अविद्या, माया तथा इसका निमित्त कारण अविद्या, माया से प्रच्छन्न जीव है। इस कारण यह संसार झूठा है। 'ब्रह्मसत्यं जगत् सत्यं, संसारः केवलं मृषा, यही आपका सिद्धान्त है। संसार का अर्थ है अहंकार और ममत्व। जीव के बन्धन के कारण बस ये दो ही हैं। इसी संसार से मुक्त होने की आवश्यकता है, जगत् से नहीं। इस तरह निश्चय ही आचार्य चरणों की यह मान्यता अपना विशेष महत्त्व रखती है। प्रश्न यह होता है कि वह माया कौनसी है, जिससे मोहित

होकर जीव संसार की रचना करता है और फिर नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है। इसे भी समझ लेना आवश्यक है। यह माया एक प्रकार की भगवान् की शक्ति है भगवान् की शक्ति स्वरूपा इस माया के दो भेद हैं। एक विद्या तथा दूसरी अविद्या माया। भगवान् की यह माया ही इस जगत् और संसार का निर्माण करती है, किन्तु इस माया के अधीन केवल जीव है भगवान नहीं, जैसा कि शांङ्करमतानुयायी कहते हैं।

अविद्या माया से जीव संसार में बंधता है तथा विद्या माया से संसार से मुक्त हो जाता है। भगवान् की यह माया ही जगत् के पदार्थों में अन्यथा बुद्धि कराती है। यह अविद्या माया पदार्थों में एक विशेष प्रकार के धर्म को पैदा कर देती है। जिसे शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार विषयता कहते हैं। इस विषयता के कारण ही जीवों को पदार्थ भगवत् स्वरूप में न प्रतीत होकर अन्यथा प्रतीत होते हैं। श्रीमद् भागवत की सुबोधिनी में वल्लभाधीश कहते हैं कि 'विषयो भगवान् विषयता माया जन्या' अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थ भगवत् स्वरूप ही हैं, किन्तु विषयता के कारण पदार्थों का शुद्ध स्वरूप भासित नहीं होता। अविद्या माया का कार्य ही है विषय के स्वरूप का आच्छादन कर देना। यह अविद्या माया ही, जीव को विषयों में फंसाकर नाना प्रकार के अज्ञान को पैदा करती हैं। इसीसे प्रेरित होकर जीव संसार चक्र में भ्रमण करता है। यही माया जीव के अन्तःकरण, मन, बुद्धि को मोहित करती हुई पदार्थों को नाना प्रकार से प्रतीत कराती है। इस अविद्या माया को आचार्यों ने कई नामों से सम्बोधित किया है। तत्वदीप निबन्ध में आचार्य चरणों ने इस अविद्या माया के पांच भेद बतलाये हैं। आप कहते हैं कि अविद्या पंच पर्वा है। जिससे बंधकर जीव संसार को प्राप्त करता है और इस अविद्या की निवृत्ति पंच पर्वा विद्या के द्वारा होती है।

तब जीव संसार से छूट जाता है। पर्वका अर्थ होता है गांठ या ग्रन्थि। अविद्या के निम्नलिखित पांच पर्व हैं।

१—अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास तथा स्वरूपाध्यास। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के भ्रम को ही अध्यास या आरोप कहते हैं। मैं कर्त्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ .इस प्रकार का जो अहंकार है वही अन्तः करण का अध्यास है। जीव जब प्राण के धर्मों को ही अपना धर्म मानने लगता है और कहता है कि मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ तब उसे प्राणाध्यास होता है। जब जीव अपनी इन्द्रियों के धर्मों को ही अपना स्वरूप मानने लगता है और कहता है कि मैं काना हूँ, मैं अन्धा या बहरा हूँ तब उसे इन्द्रियाध्यास होता है। और जब जीव देह को ही अपना स्वरूप मानने लगता है और कहता है मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, तब उसकी इस धारणा को देहाध्यास कहते हैं। जब जीव अन्तः करण, प्राण, इन्द्रिय, देह सबको मिलाकर अपना स्वरूप समझता है तब उसे स्वरूपाध्यास होता है। उस समय वह यह भूल जाता है कि मैं आनन्द स्वरूप भगवान् का नित्य अंश हूँ और इस तरह संसार के चक्र में घूमता रहता है। इस अविद्या की निवृत्ति के लिये शास्त्रों में अनेकों उपाय बतलाये गये हैं और उन सभी उपायों की सार्थकता कोभी श्रीमदाचार्यचरण स्वीकार करते हैं। उन उपायों के अवलम्बन के लिये साधक को कठोर साधना की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये आप की दृष्टि में अविद्या की निवृत्तिका सबसे सरल मार्ग भगवत् कृपा है। इस भगवत् कृपा को ही पुष्टि या अनुग्रह भी कहते हैं। यह भगवत् कृपा समस्त काल कर्म, स्वभाव को बाधित कर देती है और जीव भगवान् को प्राप्त कर लेता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि जिस प्रकार अविद्या के पांच पर्व होते हैं, ठीक उसी प्रकार विद्या भी पंच पर्वा होती है। वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भक्ति। यही विद्या के पांच पर्व

हैं। इस पंचपर्वा विद्या के द्वारा ही अविद्या की निवृत्ति होती है। इस पंचपर्वा विद्या में जिस भक्ति की चर्चा की गई है वह भक्ति भी मर्यादा भक्ति ही है। इस प्रकार मर्यादा में रुचि रखने वाले जीवों की मुक्ति ही पंचपर्वा विद्या के द्वारा होती है, किन्तु जो जीव प्रवाही अथवा दूसरी कोटि के हैं उन्हें भगवत् प्राप्ति इस पंच पर्वा विद्या के द्वारा भी नहीं हो सकती। यद्यपि प्रत्येक जीव का लक्ष्य भगवत् प्राप्ति ही है, फिर भी रुचि वैचित्र्य के कारण मार्ग वैचित्र्य होना स्वाभाविक है।

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्
नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

अर्थात्-हे नाथ! जिस प्रकार विभिन्न मार्गों से होती हुई सभी नदियाँ एकमात्र समुद्र को ही प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न रुचि वाले प्राणियों के लिये भी एकमात्र आप ही प्राप्तव्य हो। इन विभिन्न रुचि वाले प्राणियों को आचार्य चरणों ने तीन भागों में विभाजित किया है। भले ही वे किसी भी जाति धर्म या सम्प्रदाय के क्यों न हों। आपका यह वर्गीकरण मनोविज्ञान पर आधारित है। आपके कथनानुसार जीव तीन प्रकार के होते हैं। प्रवाही, मर्यादा-मार्गीय और पुष्टिमार्गीय। विश्व के समस्त प्राणी इन तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो संसार प्रवाह में पड़कर, विधि निषेध से रहित होकर, बार-बार जन्म मरण के दुःख का अनुभव करते रहते हैं। दूसरे ऐसे जीव होते हैं जो शास्त्र-विधियों का यथावत् पालन करते हैं। इन्हें आचार्य मर्यादामार्गीय जीव कहते हैं। तीसरे प्रकार के वे जीव होते हैं जो समस्त मर्यादाओं का अनेक जन्म पूर्व ही पालन कर कृतार्थ हो चुके रहते हैं। ऐसे जीव सतत सर्वत्र भगवत् कृपा का अनुभव करते रहते हैं। भगवद्-नुग्रहीत ये जीव पुष्टिमार्गीय कहे जाते हैं।

पुनः पुष्टिमार्गीय जीवों के भी चार भेद आचार्य चरणों ने किया है। जैसे शुद्ध पुष्ट जीव, पुष्टि पुष्ट जीव, मर्यादा पुष्ट जीव और प्रवाह-पुष्ट जीव। सभी प्रकार के जीवों के लक्षण भी आपने किया है।

मर्यादा मार्गीय जीवों की रुचि कर्म तथा ज्ञान में विशेष रहती है। इन्हें स्वर्गादिलोक तथा अक्षरसायुज्य की प्राप्ति होती है। भगवान् जब चाहते हैं तब इन्हें भी अपनी इच्छानुसार अक्षरसायुज्य से निकालकर अपनी लीला में प्रविष्ट कर लेते हैं। तब ये दैवी मर्यादा-मार्गीय जीव भी पुष्टि सृष्टि कोटि में आ जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि शास्त्र मर्यादाओं के पालन से शुद्ध हो जाने पर इन जीवों पर प्रभु की करुणा स्वतः हो जाती है और इन्हें समस्त मर्यादाओं से मुक्त कर प्रभु अङ्गीकार कर लेते हैं। शुद्ध जीव ही पुष्टि सृष्टि का अधिकारी होता है, यह निर्विवाद सत्य है। जो लोग अपने को पुष्टिमार्गीय जीव समझ बैठे हैं उन्हें आचार्य चरणों द्वारा बतलाये गये जीवों के लक्षण का बार-बार अनुसंधान करना चाहिये। आप श्री कहते हैं कि पुष्टिपुष्ट जीव सर्वज्ञ होते हैं। सर्वज्ञ का अर्थ है 'भगवदिच्छानुसार भगवत् सुख का पूर्ण विचार। ऐसे जीव हरि के भी हरि होते हैं। मर्यादा पुष्ट जीव भगवान् के स्वरूप तथा गुणों के जानने वाले होते हैं। इनमें भगवत् गुणों का पूर्ण विकास तथा वैराग्य की पराकाष्ठा रहती है। प्रवाह पुष्ट जीवों के विषय में आचर्य चरणों का कहना है कि वे भगवद्धर्मों को जानते हुए क्रिया में रत रहते हैं। उन्हें जीवधर्म तथा भगवद्धर्म दोनों का ज्ञान रहता है और इस ज्ञान के फलस्वरूप उनकी क्रिया भी भगवत्संबंधी ही होती है। इनमें त्रुटि इतनी ही रहती है कि इनका विश्वास साधनों पर अधिक रहता है। इसलिए तीर्थ सेवन, साधुसमागम तथा इसी तरह नाना प्रकार के बाह्य-अनुष्ठान ये भगवत् प्रीत्यर्थ किया करते हैं। किन्तु इनकी समस्त क्रियाएँ केवल भगवत् प्रीत्यर्थ ही

होती है। ये प्रवाही पुष्ट जीव संसार या संसार सुख के लिए क्रिया में प्रवृत्त नहीं होते। संक्षेप में यही कहना चाहिए कि इनकी समस्त क्रियायें भगवद् भजनानुकुल होती हैं। इस प्रकार इस प्रवाह पुष्टि के ही तीन भेद और हो जाते हैं। जैसे—प्रवाह पुष्ट जीव, प्रवाह-मिश्रित मर्यादा मार्गीय जीव तथा प्रवाह मिश्रित प्रवाही जीव। इसी प्रकार उपर्युक्त पुष्टि पुष्ट तथा मर्यादा पुष्ट जीवों के भी तीन भेद और हो जाते हैं तब कुल मिलाकर ,इनके नौ भेद हो जाते हैं। ऊपर हम सभी प्रकार के जीवों के लक्षण बतला आए हैं। निश्चय ही हममें आचार्य चरणों द्वारा बतलाए प्रवाह पुष्ट जीवों के भी लक्षण नहीं हैं। फिर पुष्टि पुष्ट तथा मर्यादा पुष्ट जीवों की तो बात ही दूर है। अब देखना यह है कि क्या हममें आचार्य द्वारा बतलाये गये प्रवाह मर्यादा जीवों के लक्षण हैं? प्रवाह मर्यादा मार्गीय जीव शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार ही संसार प्रवाह में पतित होता है, किन्तु क्या हम संसार के प्रवाह में पड़कर भी शास्त्र मर्यादाओं का पालन कर रहे हैं? यदि हम शास्त्र मर्यादाओं को छोड़कर संसार के कार्यों में संलग्न हैं तो हम इस प्रवाह मर्यादा कक्षा के भी अधिकारी नहीं हैं। अब तीसरी कक्षा प्रवाह मार्गीय जीवों की वह है जिसे हम प्रवाह मिश्रित प्रवाह कह सकते हैं। ऐसे जीवों की लौकिक क्रियाओं में अत्यन्त आसक्ति रहती है। शास्त्र के विधि निषेधों को न तो ये जानते हैं और न तो इन्हें उसकी किसी प्रकार की चिन्ता ही रहती है। वस्तुतः ये भी एक प्रकार के आसुरी जीव ही होते हैं और हम लोग आचार्य चरणों की बतलाई हुई परिभाषा के अनुसार इसी कोटि के जीव हैं। हाँ, हम उन दुर्ज्ञ जीवों की कक्षा में नहीं हैं जिनका लक्ष्य ही भगवान् और भगवान् के अवतारों के प्रति द्वेषभाव होता है। इसे भगवान् का अनुग्रह ही समझना चाहिए और अपने दोषों की तरफ यदि हम सतत

ध्यान दें तो निश्चय ही इसे भगवद्नुग्रह ही समझ कर अपने को कृतार्थ समझना चाहिए। क्रमशः हमें प्रवाहमिश्रित प्रवाह कक्षा से आगे बढ़कर प्रवाह मिश्रित मर्यादा कक्षा में आना होगा अर्थात् अपने आचरण और व्यवहार को शास्त्रानुकूल बनाने का प्रयत्न करना होगा। बिना इसके अन्तःकरण की शुद्धि हो ही नहीं सकती और यह अन्तःकरण की पवित्रता ही भगवाद् प्राप्ति के मार्ग का सर्व प्रमुख साधन है। कुछ लोग जो समझते हैं, शास्त्रानुकूल आचरण करना कठिन कार्य है, अतः ऐसे कठिन मार्ग की चर्चा या उपदेश सांसारिक प्राणियों को देना बालुका से तैल निकालने के समान है। अतः कोई सरल मार्ग ढूँढ़ना चाहिए, ऐसा सोच कर आचार्य चरणों के निम्न-लिखित वचनों को प्रस्तुत कर अर्थ का अनर्थ किया करते हैं और कहते हैं कि हमारा तो मार्ग निस्साधन मार्ग है। उनके ज्ञान के लिए सर्वप्रथम हम आचार्य चरणों के उन वचनों को ही प्रस्तुत कर देना आवश्य समझते हैं। आप श्री कहते हैं—

कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिमर्यादा। तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते। साधनं विना स्वरूप बलेनैव कार्यकरणे हि पुष्टिः साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया। मर्यादाविहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा पुष्टिमार्गः अनुग्रहैक साध्यः। प्रमाणमार्गात् विलक्षणः मर्यादा पुष्टिभेदेन वरणं द्विधा उच्यते। तत्र सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापक्षेण उच्यते। पुष्टौ तु न अन्यापेक्षा।

यही अणुभाष्य के वे वचन हैं जिनका नानाप्रकार से अन्यथा अर्थ किया जाता है। यहाँ पर श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण स्पष्ट कहते हैं कि भगवान् जीव का अङ्गीकार दो प्रकार से करते हैं। मर्यादा प्रकार से तथा पुष्टि प्रकार से। शास्त्र विहित साधनों के द्वारा जो मुक्ति प्राप्ति होती है वह मर्यादा मार्गीय मुक्ति है तथा बिना किसी

साधन के ही जिन्हें भगवान् अपने स्वरूप बल से ही अपनी प्राप्ति करा देते हैं उसे पष्टि कहते हैं। इस तरह जीव कृत साधन के अनुसार जीवों को मुक्त करने की जो भगवान् की इच्छा होती है वह मर्यादा मार्गीय रीति है तथा मर्यादा विहित साधनों के बिना ही भगवान् जो मोक्ष देने की इच्छा करते हैं वह पुष्टिमार्गीय रीति है। ऊपर के आचार्य चरणों के संस्कृत वचनों का अक्षरशः यह अनुवाद है। यहाँ दो बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं। पहली तो यह कि भगवत् प्राप्ति दोनों मार्गों से अर्थात् मर्यादा तथा पुष्टि उभय प्रकार से होती है और दूसरी यह कि भगवान् साधनों की अपेक्षा रखकर ही जीव को प्राप्त हों ऐसी बात नहीं है। निस्साधन जीव पर ही भगवत्, कृपा होती है, ऐसा जो लोग कहते हैं, कम से कम उन्हें निस्साधन शब्द का अर्थ पहले समझ लेना चाहिए। क्योंकि विवाद इस निस्साधन शब्द को लेकर ही प्रारम्भ होता है। निस्साधन का यदि यह अर्थ है कि समस्त वैदिक साधनों के अर्थात् शास्त्रों में बतलाये गये अन्तःकरण की पवित्रता के लिए किये जाने वाले साधनों के अनुष्ठान से रहित हो जाना ही है तब महापुरुष! मैं पूछता हूँ आपके इस वैदिक मार्ग से और उन वेदवाह्य जैन, बौद्ध ईसाई, मुसलमान आदि अवैदिक मतों में अन्तर ही क्या है? इसी देश में हजारों वर्ष पूर्व मक्खलि गोशाल नामक बौद्धों का एक ऐसा वर्ग भी था जो आप ही के समान कहता था कि धर्म-कर्म, जप-तप, पूजा पाठ, उपासना सब कुछ व्यर्थ है। मुक्ति सभी प्राणियों की निश्चित है। भगवान् दया परवश होकर निश्चित समय पर सभी जीवों को मुक्त करते रहते हैं। इस प्रकार न तो क्रिया है, न अर्थ और न इनका कोई उपयोग। किन्तु आचार्य चरणों द्वारा उपदिष्ट मार्ग वैदिक मार्ग है। यहाँ साधनों का समुचित उपयोग है। नहीं तो साधनत्वोपदेशकः, कर्ममार्गप्रवर्तकः, अङ्गीकृतौसमर्याद-, स्वदासार्थ

कृताशेष साधनः आदि वाक्यों का अर्थ क्या होगा ? जहाँ तक साधनों द्वारा भगवत्प्राप्ति का प्रश्न है निश्चय ही किसी भी शास्त्र में साधनों से भगवान् की प्राप्ति होना नहीं लिखा है। साधनों से उसी वस्तु की प्राप्ति होती है जो विनाशी तथा परतन्त्र हो। भगवान् न तो परतन्त्र हैं, न तो विनाशी फिर भला साधनों के अधीन हो ही कैसे सकते हैं। साधनों से साधक के हृदय में पवित्रता का संचार होता है और पवित्र अन्तःकरण में ही भगवत्तत्त्व अभिव्यक्त होता है। जब भक्त यह समझने लगता है कि हमारे इन्हीं साधनों के स्वाधीन होकर भगवान् हमें प्राप्त हो जावेंगे और इसी बुद्धि से प्रेरित होकर वह साधनों का अनुष्ठान करता है तब उसे निश्चय ही असफल होना पड़ता है। साधक की साधना चाहे जितनी ही कठोर क्यों न हो, वह भगवत्प्राप्ति के लिए सर्वथा अपर्याप्त होती है। साधना के द्वारा साधक में केवल भगवत्साक्षात्कार की योग्यता मात्र आती है। भगवान् का प्राप्त होना या प्रत्यक्ष होना भगवदिच्छा पर ही निर्भर है। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवती श्रुति कहती हैं—

यमेवेष वृणुते तेन लभ्यः।

परमात्मा जब जिस जीव का वरण कर लेता है तभी उस जीव को प्राप्त हो जाता है। किन्तु परमात्मकृत यह वरण जीव के साधनों की अपेक्षा रखता है या नहीं, यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। भगवान् शङ्कराचार्य तो स्पष्ट कहते हैं कि जब साधक जीव परमात्मा का वरण करता है तभी परमात्मा भी जीव का वरण करता है। इसके पहले की श्रुति है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। यहाँ पर 'बल' शब्द का अर्थ भक्तिमार्गीय आचार्यों ने भक्ति लिया है।

अहं भक्त पराधीनः, इत्यादि भगवद्वाक्य भक्ति द्वारा भगवत्-प्राप्ति सूचित करते हैं। ऊपर श्रीमदाचार्य चरणों के वाक्य हम उद्धृत कर चुके हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि साधनों द्वारा भी भगत्प्राप्ति

होती है। इन सब वचनों का निष्कर्ष यह है कि भगवान् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, साधनों के परतन्त्र नहीं हैं। फिर भी लोक मर्यादा के रक्षण के लिए ऐसे साधकों के लिए भी प्राप्त हो जाते हैं जो विभिन्न साधनों का अनुष्ठान करते हैं तथा कृपा परवश होकर ऐसे जीवों के लिए भी सुलभ हो जाते हैं जिनमें किसी प्रकार की शक्ति नहीं है। जैसे माता उस बालक को भी दुग्धपान कराती है जो रोकर उसे ऐसा करने के बाध्य कर देता है, किन्तु वह ऐसे बालक को भी नहीं भूलती जो माँ के भरोसे सब कुछ छोड़ कर बठा हुआ है। इस तरह साधन निस्साधन सभी प्रकार के जीवों के लिए भगवान् समान रूप से सुलभ हैं। वास्तविकता तो यह है कि भगवान् को प्राप्त करना ही नहीं है। भगवान् सतत प्राप्त हैं, केवल जीव में भगवान् और भगवत् कृपा को पहचानने के लिए शक्ति होने की अपेक्षा है। सतत भगवत् कृपा की वर्षा हो रही है, हम संसार रूपी दृढ़ कपाट को बन्द करके बैठे हैं। भगवत् कृपा आकर उस कपाट को खटखटा कर चली जाती है, फिर भी हमारी मोह निद्रा नहीं टूटती। बस हम जगते रहें, संसार रूपी कपाट को खुला रक्खें, भगवत् कृपा आकर लौट न जाय, हम भगवान् का निरादर न करें, उन्हें आने पर पहचान लें, इसके लिए जप-तप, साधु सत्संग, तीर्थ सेवन आदि साधनों की आवश्यकता होती है। हम मन्दिर से बाहर निकल कर यह भूल जाते हैं कि जिस भगवान् की सेवा हम मन्दिर में कर रहे थे, जिन्हें हम केवल साधन मात्र समझ रहे थे, वही भगवान् भिखारी रूप में हमसे दो पैसा माँगकर हमें कृतार्थ करने के लिए यह बाना धारण कर यहाँ उपस्थित हुए हैं। उल्टे अपने अहंकार के कारण भगवान् के वास्तविक स्वरूप को न पहचान कर हम समझते हैं कि यह एक भिखारी है और हमारी कृपा का पात्र है। बस, हमारा यह अहंकार ही भगवत् स्वरूप के साक्षात्कार का बाधक है। इसी

अहंकार के कारण हम भगवल्लीलाओं के दर्शन से वंचित रह जाते हैं। यह जगत् ही भगवान् की लीला भूमि है, अनेक रूपों से भगवान् ही जगत् में नामरूप भेद से क्रीड़ा कर रहे हैं।

आपुहि कहार आपु पालकी चढ़्यो करे। नाना रूपों में प्रतीत होने वाला यह द्वैत तो सत्य है, किन्तु द्वैतज्ञान मिथ्या है। नाना प्रकार के साधनों के द्वारा जीव इस आनन्द स्वरूप भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार करना चाहता है, किन्तु समस्त साधनों का उपयोग कर लेने पर भी उसे ऐसा प्रतीत होता है कि अब भी आनन्द मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इसी प्रकार अनन्त काल तक साधनों के अनुष्ठान करते रहने पर भी जब उसे पूर्ण आनन्द की उपलब्धि नहीं होती तब उसकी श्रद्धा समस्त साधनों पर से हट जाती है और उसे यह ज्ञान हो जाता है कि इन समस्त साधनों से भी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब उस निःसाधना का उदय होता है जो भगवत् प्राप्ति का अव्यर्थ साधन है। मां यशोदा के उदाहरण से यह बात भली भाँति समझी जा सकती है। भगवान् को बांधने के लिये ही तो समस्त साधनों को लेकर मां प्रवृत्त हुयी थीं। किन्तु मां के समस्त साधन जब उस विलक्षण शिशु को बाँध न सके तब मां निस्साधन होकर दैन्य परवश हो गयीं। फिर क्या था। भगवान् श्यामसुन्दर स्वयं बँध गये। अब कृपालु पाठकों को निस्साधनता का अर्थ स्पष्ट हो गया होगा। ऐसी निस्साधनता भी साधनानुष्ठान से ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार की निस्साधनता से मानव में उस दैन्य का उदय होता है जो उसे सदा के लिये दैन्य रहित बना देता है। ऐसा निस्साधन भक्त तो समस्त साधनों का अनुष्ठान कर पहले ही कृतार्थ हो चुका रहता है। अब उसे साधनानुष्ठान की क्या आवश्यकता? ऐसा भक्त प्रपञ्च में रह कर भी सर्वथा प्रपञ्चातीत रहता है। उसका

लक्ष्य भी एक मात्र भगवान् ही होते हैं। उसकी निष्ठा समस्त साधनों पर से सदा के लिये समाप्त हो जाती है। एक परमहंस वीतराग महात्मा तथा एक चाण्डाल दोनों में बाह्य दृष्टि से देखने में किसी भी प्रकार का भेद नहीं प्रतीत होता। दोनों ही बाह्य साधनों का अनुष्ठान नहीं करते। दोनों ही शौचाचार के नियमों का पालन नहीं करते, शिखा सूत्र से दोनों ही रहित होते हैं। किन्तु इस वाह्य समता में भी एक महान् विषमता है। एक समस्त शास्त्र विधियों का पालन कर निस्साधन होकर कृतार्थ हो चुका है और दूसरा शास्त्र विधियों का स्पर्श भी नहीं किया है। किन्तु दूसरे प्रकार का निस्साधन व्यक्ति क्या कभी शिष्ट समाज का आदर्श हो सकता है? आचार्यों ने जिस निःसाधनता की चर्चा की है वह निःसाधनता साधनानुष्ठान से ही प्राप्त होती है। भले ही उन साधनों का अनुष्ठान साधक ने इस जन्म में किया हो या पूर्व जन्म में। इसकी पहचान दैन्य से होती है। किन्तु जो लोग डाक्टर वकील तथा सरकारी पदाधिकारियों की कृपा के लिये लालायित रहते हैं, उनकी शरण में जाकर उनके कृपा भाजन बनकर अपने को गौरवान्वित समझते, हैं वे जब कहते हैं कि—'हमारे तीरथ कौन करे।, घट में गंगा, घट में यमुना, भटकत कौन फिरे। हमारा मार्ग तो निस्साधन है, तब उनकी बाल बुद्धि पर दया आती है। इन सब बातों को कहने का अधिकार कुम्भनदास जैसे परम भगवदीयों को है, जिन्होंने भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया था। जो लोग कहते हैं कि अपना तो पृथक् मार्ग है, हमें शास्त्र के सिद्धान्तों और ज्ञान की चर्चा से क्या मतलब? उनकी बातों को सुनने से ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका भक्ति मार्ग सर्वथा वैदिक मार्ग से भिन्न है। फिर भी अपने को वैदिक मतानुयायी कहकर कृतार्थ होना चाहते हैं। उदाहरण के लिये पृथक

शरण मार्गोपदेष्टा शब्द की विचित्र व्याख्या करते हैं। उनकी बातों से ऐसा मालूम पड़ेगा कि आचार्योपदिष्ट भक्ति मार्ग कोई ऐसा विलक्षण मार्ग है जिसमें अन्य भक्ति मार्गों के समान ज्ञान, वैराग्य तथा अन्तः करण की पवित्रता के लिये किये जाने वाले किसी भी साधन की इस पुष्टि मार्ग में कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही व्याख्याताओं ने सम्प्रदाय के वास्तविक स्वरूप को तिरोहित कर दिया और स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् मनीषी और विचारक को यह लिखना पड़ा कि 'भारतवर्ष के सभी धर्मों और सम्प्रदायों में त्याग और वैराग्य की प्रधानता है। इसका अपवाद केवल वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित वल्लभसम्प्रदाय है। आचार्य चरणों द्वारा उपदिष्ट भक्तिमार्ग रामानुजादि के भक्ति मार्ग से निश्चय ही विलक्षण तथा पृथक् है, किन्तु वह विलक्षणता इन महापुरुषों द्वारा बतलायी गयी विलक्षणता से नितान्त भिन्न है, किन्तु इस भेद की जानकारी के लिये अन्य भक्ति मार्गों के तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा होगी। पर यह इनके सौभाग्य में कहाँ? प्रकाश से ही तो ये घबड़ाते हैं। जहाँ भक्ति की चर्चा चली, इनका पहला शब्द होगा अपना मार्ग तो विलक्षण मार्ग है, भले ही उस विलक्षणता को आजीवन ये जान न सकें। अब जरा पृथक् शरण मार्गोपदेष्टा का तात्पर्य प्रभुचरणों का क्या है, इसे भी समझ लें। रामानुजादि आचार्यों द्वारा उपदिष्ट भक्ति द्वैत मूलक है। इन भक्ति मार्गीय समस्त आचार्यों का कहना था कि सेवक-सेव्य भाव के बिना भक्ति हो ही नहीं सकती और यह सेवक-सेव्य भाव अद्वैत में बन नहीं सकता, किन्तु वल्लभाचार्य चरणों के मतानुसार भक्ति द्वैत में सम्भव नहीं। सर्वाधिक स्नेह आत्मा के प्रति ही होता है और परम प्रेमास्पद आत्मा ही है। इस कारण द्वैतमूलक भक्ति सर्वथा सोपाधिक होगी। अद्वैतमूलक भक्ति ही निरुपाधिक निर्गुण भक्ति

हो सकती है। इस कारण वैष्णवाचार्य होते हुए भी वल्लभाचार्य चरण दार्शनिक दृष्टि से रामानुजादि की अपेक्षा शाङ्कर मत के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। दूसरी बात में आप की भक्ति की विलक्षणता दैन्य सम्बन्धी विचारों को लेकर है। रामानुजाचार्य ने हिन्दू जाति के लिये जिस दैन्य का उपदेश दिया था वह पराजित हिन्दुओं के लिये घातक सिद्ध हो रहा था। अब दैन्य का अर्थ था सदा के लिये हिन्दू जाति को समाप्त कर देना। अब उस दास्य भक्ति की आवश्यकता न थी, जहाँ जीव भगवान का दास होकर कृतार्थ हो जाना चाहता है। अब ऐसी भक्ति की आवश्यकता थी जहाँ जीव हरि का भी हरि अर्थात् भगवान् का भी भगवान् हो जाता है। जीव भगवान् के अधीन रहे यह तो मर्यादा भक्ति है। आचार्य चरणों का कहना है कि पुष्टि भक्ति तो परम स्वतंत्र होती है—

'कृष्णा धीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टि रुच्यते।' शांकर वेदान्त केवल जीव को 'अहं ब्रह्मास्मि' का अपरोक्षानुभव करने को प्रेरित करता है, किन्तु वह ऐसा समय था जब सारा राष्ट्र मुगलों द्वारा आक्रान्त हो चुका था। 'अहं ब्रह्मास्मि' का नारा लगाने वाले साधु मठाधीश विदेशियों की तलवार के आगे घर में छिप रहे थे। भगवान् आकर हिन्दू धर्म की रक्षा करेंगे, इस आशा से निराश होकर हिन्दू मानस दिक्भ्रान्त हो चुका था। एक गज की पुकार पर दौड़ने वाले गरुड़ गामी का करोड़ों गउओं की हत्या होने पर भी आसन नहीं हिल रहा था। एक द्रौपदी की लज्जा बचाने वाले द्वारिका वासी कृष्ण का कहीं पता नहीं चल रहा था। यह वह समय था जब सैकड़ों द्रौपदियों की लज्जा रोज लूटी जा रही थी। समस्त हिन्दू जनता पथ भ्रान्त हो चुकी थी। पुराणों और शास्त्रों पर से लोगों की आस्था समाप्त हो चुकी थी। उन्हें ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो शास्त्रों की ठीक व्याख्या ही न प्रस्तुत करे किन्तु

डूबती हुई हिन्दू संस्कृति का समुद्धार करे। ठीक ऐसे ही समय में हिन्दू जनता को उस दिव्य ज्योति के दर्शन हुए जो इस भीषण अन्धकार को चीर कर उसे सही मार्ग पर ले जा सकी। आचार्य ने कहा तुम केवल ब्रह्म नहीं हो, तुम तो ब्रह्म को खिला सकते हो, सुला सकते हो, ब्रह्म तो तुम्हारे अधीन है। प्रश्न था जब ब्रह्म खा पीकर सो जावेगा तब इस जगत् का पालन कौन करेगा ? आपश्री ने कहा कि 'यह सब कार्य तुम्हारा है, जीव का है। भगवान् तो रस स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है। आनन्द दान के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता। भगवान् में सबको आनन्दित करने की शक्ति तो है किन्तु वह कष्ट किसी को दे नहीं सकता, यही उसमें कमजोरी है। वह तो इतना कोमल है कि आँख खोलता है और जब इस द्वैत प्रपञ्च का दर्शन करता है तभी इतना श्रमित हो जाता है कि पुनः आँख मूंद कर सो जाता है। इस प्रकार आँख खोलना प्रपञ्च देखना और इसे देख कर जरा सा मुस्कुरा देना और उस मुस्कुराहट से जो श्रम होता है, उस श्रम से श्रमित होकर वह प्रभु सो जाता है, बस, इतना ही उसका कार्य है, धर्म रक्षण साधु परित्राणादि, कार्य तो तुम्हें करना होगा। भगवद्गीता में बतलाये गये धर्म रक्षण और साधु परित्राण का अर्थ ही दूसरा है। यहाँ के साधु सामान्य साधु नहीं हैं, किन्तु वे महा भाग्यशाली ब्रज गोपिकायें हैं जिनका एक क्षण भी भगवद्दर्शन के बिना युग के समान बीत रहा था। इसी प्रकार इस श्लोक में बतलाये गये दुष्ट का अर्थ सामान्य दुष्टों से नहीं है, सामान्य दुष्टों का नाश तो उनकी दुष्टता से ही हो जाता है, उसके लिये भगवान् की क्या आवश्यकता ? भगवान् तो रावण, कंसादि उन महा सुकृतियों (दुष्टों) के अङ्गीकार के लिये प्रकट होते हैं जिनका प्रयोजन ही भगवल्लीला का विस्तार है। इस तरह शास्त्रों के वास्तविक तात्पर्य

को आचार्य चरणों ने हिन्दू जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। 'सूर' के दीनता भरे पदों को सुनकर आचार्य ने उन्हें डांटा था।

सूर ह्वै के घिघयात काहे को है।

निश्चय ही सूर का यह दैन्य भक्तिमार्गीय वही दैन्य था जो परम्परा के रूप में भक्ति मार्गीय आचार्यों से 'सूर को प्राप्त हुआ था। आचार्य इस दैन्य के घातक स्वरूप को समझ कर ही 'सूर' को सावधान किये थे। आचार्य द्वारा उपदिष्ट दैन्य निश्चय ही अन्य भक्ति मार्गीय आचार्यों के दैन्य से विलक्षण है। इस छोटे निबन्ध में आचार्य के स्वतन्त्र भक्ति मार्ग का विश्लेषण करना अत्यन्त कठिन है। यह तो केवल उन महानुभावों को सावधान करने के लिए कुछ धृष्टता मात्र मैंने की है। अन्यथा किस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में वल्लभ सम्प्रदाय हिन्दू संस्कृति का संरक्षण शिविर बना हुआ था, इस पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है। किन्तु आचार्यो-पदिष्ट जिस सिद्धान्त ने एक समय हिन्दू जनता में अद्भुत शक्ति का संचार किया था, आज वही सिद्धान्त पुनः काल प्रवाह से प्रभावित हो चुका है। सिद्धान्त की जगह अपसिद्धान्त ही सिद्धान्त रूप में जब प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब ऐसे सिद्धान्त अपने आप ही अपनी समाधि तैयार कर लेते हैं और इतिहास की वस्तु बन जाते हैं। अभी तक हमने संक्षेप में जीव जगत और ईश्वर विषयक आचार्यों के सिद्धान्तों का निरूपण किया। इन्हें देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वैदिक सिद्धान्तों का सही रूप में निरूपण करना ही आचार्य चरणों का मुख्य उद्देश्य था। नाना प्रकार के मतों से भ्रमित होकर जीवात्मा भगवान् से वञ्चित न हो जावे इस कारण सभी प्रकार के सात्विकराजस् और तामस जीवोंके कल्याण का मार्ग आपने प्रशस्त किया और जिस माया या भगवत् शक्ति से जीव मोहित हो रहा है उसका भी स्पष्टीकरण हम आपके ग्रन्थों में पाते हैं। यद्यपि माया शब्द

का प्रयोग सर्व प्रथम हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है, फिर भी इस शब्द के अनेकों अर्थ हुए। वैदिक साहित्य में हमें इसके अनेकों अर्थ उपलब्ध होते हैं। शाङ्करवेदान्त की तो आधार शिला ही यह माया है। इस मायावाद पर ही शाङ्करवेदान्त प्रतिष्ठित है। भगवान् शङ्कराचार्य के परवर्ती सभी वैष्णवाचार्यों का मुख्य खंडनीय विषय यह मायावाद रहा है। इस कारण वेदान्त के जिज्ञासु को इसका ठीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। यह माया ही समस्त अनर्थों की जड़ है। भगवान् बुद्ध ने इसी माया या अविद्या का साक्षात्कार किया था। इस दृश्यमान प्रपञ्च का हेतु केवल अविद्या है। अविद्या के कारण ही खराब से खराब वस्तु में आनन्द की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। स्त्री के थूक में अधरामृत की बुद्धि उत्पन्न करना इसी अविद्या का कार्य है। शङ्कराचार्य इसे न तो सत् कहते हैं और न असत्। सत् वस्तु का त्रिकाल में भी बाध नहीं होता किन्तु इसका ब्रह्मज्ञान होने पर बाध हो जाता है। यह असत् भी नहीं है क्योंकि इसका कार्य प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। इस लिए शाङ्कर वेदान्ती इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अर्थात् ठीक ठीक इसके स्वरूप का निर्वचन नहीं हो सकता वल्लभाचार्य का माया विषयक मत हम ऊपर दे चुके हैं इसलिए पुनः पिष्टपेषण करना उचित न होगा। माया का इतिहास बड़ा ही रोचक है। किस प्रकार यह मायावाद बौद्धों के यहाँ विज्ञानवाद के रूप में परिणत हो गया, इसका स्वतन्त्र इतिहास है। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि सभी दार्शनिक किसी न किसी प्रकार इस माया या अज्ञान की सत्ता को स्वीकार करते हैं। भले ही इसे वे चाहे जिस नाम से सम्बोधित करें। माया कहें, अविद्या कहें, प्रकृति कहें या चाहे जो कुछ। नाम भेद से पादार्थ या वस्तु में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। इसका सर्वमान्य अर्थ है भ्रम। इस भ्रम के कारण ही जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। सारा

संसार मृत्यु के मुख में रात दिन चला जा रहा है, सभी मरते जा रहे हैं। हमारी यह, उन्नति, हमारे समस्त आडम्बर, हम स्वयं एक दिन मृत्यु के मुख में चले जावेंगे। मृत्यु ही इनकी एक मात्र गति है। इससे अधिक और सत्य बात दूसरी कुछ हो ही नहीं सकती। जीवन का लक्ष्य, सुन्दरता का लक्ष्य, शक्ति और ऐश्वर्य का लक्ष्य, धर्म और अधर्म का लक्ष्य, अन्त में विनाश ही है। धनी-निर्धन, राजा भिक्षु, साधु-असाधु सभी का पर्यवसान मृत्यु में है। फिर भी जीवन के प्रति इतनी आसक्ति क्यों है? क्यों हम इस आसक्तिका त्याग नहीं कर पाते? हम इसे जान नहीं पाते बस, यही माया है। यही जीव का अज्ञान है। पतिङ्गे जिस प्रकार दीपक की लौ पर टूट कर नष्ट हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार हम इन्द्रियों में सुख पाने की इच्छा से अपने को बार बार विषय रूपी अग्नि में झोंकते रहते हैं। सुख की जगह दुःख ही हाथ लगता है और हम धोखा खाकर अन्त में मर जाते हैं। इसका एक ही उपाय है कि हम उन विषयों को त्याग दें, उनसे विरक्त हो जावें। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि काम्य वस्तुओं के उपभोग से वासनाओं की निवृत्ति नहीं होती, अपितु जैसे घृताहुति के द्वारा अग्नि और प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार वासनायें और भी बढ़ जाती हैं, फिर भी हम विषयों को छोड़ नहीं पाते और इसी को अज्ञान या माया कहते हैं। जहाँ शुभ है वहीं अशुभ भी है, जहाँ जीवन है वहीं मृत्यु भी छाया के समान उसका अनुसरण कर रही है। यह निश्चित है कि जो हँस रहा है उसी को रोना पड़ेगा। आज जो रो रहा है कल उसका हँसना भी निश्चित है। यह क्रम बदल नहीं सकता। हम रात दिन इसका अनुभव करते हैं। फिर भी विश्वास नहीं होता बस, यही माया है। हम केवल सुख चाहते हैं। ऐसा सुख जो दुःख से रहित हो। जब कि वास्त-

विकता यह है कि दुःख से रहित सुख होता ही नहीं। जिस प्रकार मधु और घृत को एक में मिलाकर फिर अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दुःख रहित सुख परस्पर विरोधी बातें हैं। सत्य तो यह है कि सुख दुःख, शुभ-अशुभ इनकी पृथक् सत्तायें हैं ही नहीं। एक ही पदार्थ हमारे ग्रहण के भेद से अनुकूल और प्रतिकूल रूप से प्रतीत होता है। कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जो एकदम शुभ या अशुभ कही जा सके। एक ही पदार्थ जो आज सुखद प्रतीत होता है, सम्भव है वही कल दुःखद प्रतीत हो। चाँद की किरणें प्रेमियों को अत्यन्त सुखद प्रतीत होती हैं किन्तु वही शीतल चन्द्र किरणें विरहियों को जलाती हैं। एक ही वस्तु जो एक व्यक्ति को सुखी बनाती है, दूसरे व्यक्ति को दुःखी बनाती है। जो अग्नि बच्चे को जलाती है उसी अग्नि से सुस्वादु भोजन भी बनता है। अशुभ को दूर करने के लिए शुभ को भी दूर करना होगा। मङ्गल को निवृत्त किये बिना अमङ्गल से हम बच नहीं सकते। मृत्यु को दूर करने के लिए जीवन का दूर करना आवश्यक है। जब तक जीवन है, मृत्यु से हम बच नहीं सकते। मृत्यु विहीन जीवन और दुःख विहीन सुख यह कभी संभव नहीं है। ये दोनों एक ही वस्तु की अलग अलग अनुभूतियाँ मात्र हैं। इन दोनों को समान रूप से ग्रहण करना ही सत्य का साक्षात्कार करना है। हमें यह जान लेना होगा कि परमात्मा यदि आनन्द स्वरूप है तो वही दुःख स्वरूप भी है। हमें ऐसे ही विरुद्ध धर्माश्रयी परमात्मा को प्राप्त करने के लिए तत्पर होना होगा। सामान्य व्यक्ति इस बात को सुन कर डर जावेगा। क्योंकि वह जीवन भर शुभ या आनन्द का ही अन्वेषण किया करता है। पाप या अशुभ से वह बचना चाहता है। भले ही वह इसमें सफल न हुआ हो। किन्तु परमात्मा के स्वरूप को जानने के लिए हमें साहसी होना होगा, वास्तविकता पर पर्दा डालकर हम रोग का प्रतिकार

न कर सकेंगे। जब व्रज गोपिकायें श्यामसुन्दर से मिलने के लिए चलीं, तब भगवान् व्यास कहते हैं—

"निवृत्तः क्षीणमङ्गलाः"

अमङ्गल के साथ ही उन व्रज सुन्दरियों के मङ्गल भी क्षीण हो गये। तभी उन्होंने श्याम सुन्दर को प्राप्त किया। किन्तु हम तो चाहते हैं केवल अशुभ से छुटकारा, ऐसा शुभ जो अशुभ से रहित हो, ऐसा जीवन जो मृत्यु से रहित हो, बस, यही माया है। हम सभी लोग इसी माया के भीतर हैं, इसी माया के दास हैं। यह माया ही जन्म और मृत्यु का कारण है और हम इसी माया से जकड़े हुए हैं। प्रश्न है तब क्या इस माया से छूटने का कोई उपाय है? क्या इस बन्धन को तोड़ा जा सकता है। अनादि काल से जाने अनजाने मानव इसी बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न कर रहा है। चाहे उसका यह प्रयत्न कर्म द्वारा हो, उपासना द्वारा हो, ज्ञान द्वारा हो या भक्ति द्वारा। सभी धर्मों या दर्शनों का उद्देश्य है इस बन्धन को तोड़ने में सहायक होना। मनुष्य समझता है मैं जो चाहता हूँ वह नहीं हूँ। मैं बन्धनों में बंधा हूँ। हमारी सीमायें हैं। हमें इन सीमाओं को लांघ कर ऐसी वस्तु को प्राप्त करना है जो असीम हो। क्रमशः मानव के बढ़ते हुए ये भाव सगुण ईश्वर के आदर्श को पार कर निर्गुण ईश्वर तक पहुँच जाते हैं। सगुण ईश्वर गुणों से सम्बन्धित होने के कारण मायातीत नहीं हो सकता। वह शुभ अशुभ से सर्वथा रहित नहीं हो सकता। निर्गुण ईश्वर ही प्रकृति के गुणों से रहित होगा, यही मानव की कल्पना उसे निर्गुण ईश्वर तक ले जाती है। फिर भी ऐसे निर्गुण ईश्वर से मानव सन्तुष्ट नहीं होता। मानव का ईश्वर ऐसा ईश्वर होना चाहिये, जहाँ हमारी समस्त मानवीय आकांक्षायें पूर्त हो सकें। भले ही ईश्वर में प्रकृति के गुण न हों,

भले ही वह ईश्वर सुख स्वरूप न हो, किन्तु ऐसा भी ईश्वर हो सकता है जो प्रकृति के समस्त गुणों से रहित हो, किन्तु अप्राकृत दिव्य गुणों से युक्त हो। ऐसा भी ईश्वर हो सकता है जो सुख और दुःख तथा समस्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय हो और ऐसे ही ईश्वर का पता हजारों वर्ष पूर्व मानव ने लगा लिया था। श्वेताश्वतरोपनिषद् का ऋषि खड़ा होकर घोषणा कर रहा है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आये धामानि दिव्यानि तस्थुः। वेदा हमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽ ति मृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽ यनाय। अमृतस्य पुत्राः।

कितना सुन्दर विशेषण है। ऋषि कह रहा है कि हे दिव्यधाम वासी अमृत के पुत्रगण! सुनो। मैंने उस पुरुष को जान लिया है जिसका वर्ण सूर्य के समान है, जो अन्धकार या अज्ञान से अतीत है, जिसे जान लेने पर ही मृत्यु का या माया राज्य का अतिक्रमण किया जा सकता है, इसके सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं है। जब तक उस माया पति को न जानोगे जिसकी यह माया है तब तक तुम माया का अतिक्रमण नहीं कर सकते। किन्तु जब तक अहंकार और ममता है तब तक उसका साक्षात्कार करना सर्वथा असम्भव है। उस सत्य की उपलब्धि के लिये संसार को छोड़ना होगा। हम जैसे हैं वैसा ही यह जगत् हमें प्रतीत होता है। किसी मार्ग में एक ठूंठ वृक्ष खड़ा है, एक चोर उधर से जा रहा था उसे वह पहरे दार समझ कर भागा। अपनी प्रेमिका की प्रतीक्षा करने वाला प्रेमी समझा, हमारी प्रेमिका न जाने कब से खड़ी होकर प्रतीक्षा कर रही है। एक बच्चा उसे भूत समझ कर चिल्लाने लगा, किन्तु वह वस्तु ठूंठ के अतिरिक्त और कुछ न थी। अपनी भावनाओं के कारण नाना प्रकार के व्यक्तियों ने उसे नाना प्रकार का समझा।

इसके मूल में व्यक्ति का क्षुद्र 'अहं' या व्यक्तित्व ही कार्य कर रहा था। इस अहम् का हमें पूर्ण रूप से त्याग या समर्पण करना होगा। छोटे अहम् को बड़े अहम् में परिणित करना होगा, इसके सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं है। और जिसके प्रति पृथक् व्यक्तित्व का समर्पण किया जाता है उसे ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर सगुण भी है और निर्गुण भी। प्रकृति के गुणों से रहित होने से निर्गुण है तथा अप्राकृत दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है। ऐसे ही भगवान् के प्रति मुक्तात्मा जीवों की अहैतुकी भक्ति हुआ करती है। श्रीमद्भागवत में ऐसे ही महा भागवतो मुक्तात्माओं के विषय में कहा गया है कि—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्तिं इत्थं भूतगुणों हरिः॥

आत्मा रूप से भगवान् को जानकर भगवान् की भक्ति करना यही निर्गुण भक्ति है। और इसी निर्गुण भक्ति मार्ग का प्रतिपादन श्रीमदाचार्य चरणों ने किया है। निश्चय ही सगुण भक्ति मार्गीय आचार्यों की अपेक्षा आप द्वारा प्रवर्तित यह निर्गुण भक्ति मार्ग शुद्ध अद्वैत पर प्रतिष्ठित है। सेव्य-सेवक भाव उपासना के लिये आवश्यक है। किन्तु भक्ति और उपासना दोनों को आचार्य चरण पृथक् पृथक् स्वीकार करते हैं। उपासना को ही भक्ति समझ बैठना भारी भूल है। सगुण भक्ति भी उपासना का ही एक भेद है। जब तक 'अहम्' अवशिष्ट है तब तक निर्गुण भक्ति का होना असम्भव है। इस 'अहं' के विलीन होते ही साधक भगवन्मय हो जाता है। यही दशा उन महाभागा व्रज गोपिकाओं की हुयी थी। जब तक वे 'अहं' ज्ञान से शून्य थीं तब तक वे सभी कृष्ण मय हो गयीं थीं, पर जैसे ही उनका 'अहम्' पुनः जागृत हुआ वे फिर से श्यामसुन्दर को उपास्य रूप में देखने लगीं और स्वयं पुनः गोपी

की गोपी हो गईं। इस प्रकार जब व्यक्तित्व का पूर्ण विलयन हो जाता है तब जीवात्मा ब्रह्म वित् हो कर पर ब्रह्म के साथ नाना प्रकार की कामनाओं का उपभोग करता है। किन्तु यह सिद्धावस्था की बात है। इसके पूर्व इस अवस्था की प्राप्ति के लिये साधक को कुछ साधना नुष्ठान करने की आवश्यकता पड़ती है और तभी उसे इस ईश्वर भाव की प्राप्ति होती है। ईश्वर के प्रति किये जाने वाले इस साधना नुष्ठान को भी भक्ति कहा जाता है। इस साधन रूपा भक्ति से ही फल रूपा भक्ति की प्राप्ति होती है। श्री मद्भागवत के एकादश स्कन्ध में 'भक्त्यासजातयाभक्त्या' शब्द से साधन रूपा भक्ति तथा उससे प्राप्त होने वाली पराभक्ति को सूचित किया गया है। साधन रूपा भक्ति ही अन्तः करण की शुद्धि का भी हेतु है। अन्तः करण का अधिष्ठातृ देवता चन्द्र है। यह चन्द्र षोडश कलाओं का होता है, इस लिये षोडश प्रकार के साधनों का अनुष्ठान अन्तःकरण शुद्धि के लिये आवश्यक है। जिनमें स्नानादि अर्थात् बाह्य पवित्रता प्रथम है। प्रशस्त यज्ञ भगवद् विषयक दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति, वन्दन तथा भगवद् भजन समस्त भूतों में भगवद् भावना इच्छा त्याग पूर्वक सर्वसंग निवृत्ति; महापुरुषों का सम्मान, दीनों पर दया, अपने के समान में मैत्री, यम-नियम, सत्शास्त्रों का गुरु मुख से श्रवण, भगवद् गुणों का निरन्तर कीर्तन, सरलता, सत्सङ्ग, तथा अहंकार का अभाव इनका व्यसन दशा पर्यन्त अनुष्ठान करना आवश्यक है। व्यसन दशा प्राप्त हो जाने पर निश्चय ही साधक को किसी भी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती। ईश्वर की कृपा से तब वह भक्त ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ पाण्डित्य और बुद्धि बहुत पीछे छूट जाते हैं। उसे बुद्धि के सहारे टटोलने की आवश्यकता नहीं रह जाती। तब वह तर्क करके विश्वास नहीं करता, वह प्रत्यक्ष अनुभव करके

कृतार्थ हो जाता है। उसके लिये परमात्म आलोक से सभी कुछ आलोकित हो उठता है। ईश्वर का यह साक्षात् कार, यह अनुभव संसार के समस्त अनुभवों से श्रेष्ठ है। इतना ही नहीं ऐसे भी भक्त हुए हैं जिन्होंने ईश्वर विषयक इस अनुभव को मुक्ति से भी श्रेष्ठ घोषित किया है। इसी प्रकार का ईश्वर साक्षात्कार मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। किन्तु जो लोग इन्द्रिय सुखों को ही एक मात्र उपलब्ध करने योग्य वस्तु समझते हैं, जिन लोगों ने इन्द्रिय सुखों की पूर्ति का साधन परमात्मा को बना लिया है जिनकी दृष्टि में धर्म-ईश्वर लोक-परलोक, सब कुछ इन्द्रिय तृप्ति तक ही सीमित हैं, जो खाने-पीने, वंश वृद्धि करने और मर जाने के सिवाय और कुछ जानते ही नहीं, वे जब धर्म और ईश्वर साक्षात् कार की चर्चा करते हैं, तब वस्तुतः वे धर्म और ईश्वर दोनों को कलङ्कित करते हैं। इस भगवत् प्रेम के वास्तविक अधिकारी वही हैं जिन्होंने इन्द्रियों की तुष्टि को नासमझ बच्चों का खिलवाड़ समझ लिया है। जिनके लिये भगवत् प्रेम ही एक मात्र आदर्श है। और आज भी सौभाग्य से ऐसे महा पुरुषों से यह देश शून्य नहीं है। धर्मानुष्ठान और आध्यात्मिक अनुभूति का एक छोटा सा भी कण मनुष्य को दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न कर देता है। ऐसे महापुरुष के दर्शन मात्र से जीवात्मा का कल्याण हो जाता है। अन्धी भावुकता के बल पर जब किसी व्यक्ति विशेष को ईश्वर मान कर उसका अनुकरण किया जाता है तब ऐसी भावुकता केवल उस व्यक्ति विशेष का ही विनाश नहीं करती, मानव के विनाश का पथ भी प्रशस्त करती है। हम ऐसी भावुकता को श्रद्धा या भक्ति चाहे जो कुछ भी कहलें किन्तु यह न तो श्रद्धा है और न भक्ति। शास्त्रों में श्रद्धा का स्वरूप बतलाया गया है। श्रद्धा ही सब कुछ नहीं है, श्रद्धा को शास्त्रीय होना चाहिये, शास्त्रमूलक होना चाहिये। श्रीमद्भगवत् गीता में मानवीय

श्रद्धा के तीन भेद बतलाये गये हैं। सात्त्विक, राजस और तामस। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह मनुष्य भी वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः। श्रद्धा से व्यक्ति के व्यक्तित्व का पता चलता है। क्यों कि श्रीमद्भगत् गीता कहती है–

'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत'

हे अर्जुन! जिसका जैसा अन्तःकरण होता है उसी के अनुरूप उसकी श्रद्धा भी होती है। इसलिए श्रद्धा का शास्त्रसम्मत होना उचित है। चोर की चोर पर या वेश्या की भड़ुए पर जो श्रद्धा होती है वह बड़ी उत्कट होती है। फिर भी वह तामस श्रद्धा ही है। जिसका परिणाम दुःख और नरक होता है। इसलिए भक्त को बड़ी सावधानी के साथ यह विचार करना होता है कि हमारी श्रद्धा सात्विक है, राजस है या तामस। आचार्य चरण कहते हैं कि— 'सात्विका, भगवद्भक्ता एव मुक्तौ अधिकारिणः' सात्विक भगवद्भक्त ही मुक्ति के अधिकारी होते हैं। एक बात ध्यान में रखने की है कि आचार्य चरणों के सिद्धान्तानुसार ऐसे मुक्त जीव ही भगवल्लीला में प्रवेश के अधिकारी होते हैं। ब्रह्मवित् होकर ही ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है

मुक्तानामाश्रयः कृष्ण नान्येषामितिशास्त्रतः

इस आचार्यवचन के अनुसार मुक्त जीव ही कृष्णानुग्रह रूपा नित्य लीला प्रवेश के अधिकारी होते हैं। ब्रह्मानन्द से समुद्धार करके ही भगवान् उनका भजनानन्द में प्रवेश कराते हैं। इसलिए ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही जिनका आदर्श है उनके साथ भी शुद्धाद्वैत वेदान्त का कोई विरोध नहीं है। पुष्टिभक्ति की महत्ता इससे सरलता पूर्वक समझी जा सकती है। शास्त्रानुकूल श्रद्धा ही जीव को परा-भक्ति तक ले जा सकती है। शास्त्र साक्षात् भगवान् के वचन होते हैं उन्हें आचार्य कृष्ण वाक्य कहते हैं।

कृष्णवाक्यं सदाकार्यं मायामोहं निवार्य हि ।
वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या शुद्धान्नेन च वर्तयेत् ॥

आचार्य चरणों के इस बचन के अनुसार श्रुति स्मृति रूप भगवान् की आज्ञाओं के अनुसार जीव को भगवत् प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। वृक्षवत् स्थिति का अर्थ होता है जिस प्रकार परोपकार के लिये ही वृक्ष जीवन धारण करते हैं उसी प्रकार वैष्णवों का जीवन होना चाहिये। शास्त्र श्रवण से जीवके भक्ति के प्रतिबन्धक पापों का नाश होता है। प्रतिबन्धक पापों के नष्ट होने पर शास्त्रश्रवणादि रूप साधन भक्ति से भक्ति रूप बीज भाव दृढ़ होकर व्यसन कक्षा को प्राप्त होता है और क्रमशः भक्त के व्यसन सिद्ध हो जाने पर उसके सात्त्विक रासस् , तामस, समस्त गुणों का नाश हो जाता है। जब तक गुणमय शरीर विद्यमान है तब तक ब्रह्म भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। नित्य लीला प्रवेश रूपा मुक्ति तो दूर की बात है। गुणों का नाश ब्रह्म भाव प्राप्तिका मुख्य हेतु है। इसीको आत्यन्तिक भक्तियोग शब्द से शास्त्रों में कहा गया है जैसे

स एव भक्तियोगाख्यः आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥

इस प्रकार का भगवद् भाव प्राप्त करके साधक भगवान् की नित्य नित्य लीला में प्रविष्ट होकर 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इस श्रुत्युक्त रीति से पुरुषोत्तम के साथ पुरुषोत्तमात्मक भागों का उपभोग करता है। इसीलिये साधकों को सर्व प्रथम शास्त्रों पर विश्वास रखना आवश्यक होता है। शास्त्रों में भगवत्प्राप्ति के लिये कर्म ज्ञान के साथ ही भक्ति का भी होना आवश्यक माना गया है। पूर्णतम चरित्र के लिये ज्ञान भक्ति और कर्म की त्रिपुटी का होना आवश्यक है। भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। किन्तु जब तक सांसारिक वासनायें हृदय में

विद्यमान हैं इस प्रेम का उदय नहीं हो सकता। भागवद्विषयक इस प्रेम की चर्चा नारद तथा शाण्डिल्य महर्षि ने विशेष रूप से अपने भक्ति सूत्रों में की है और यहीं से सभी वैष्णवाचार्यों ने भक्ति को प्राप्त किया है। भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह ईश्वर प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्गका उपदेश करती है। किन्तु इसमें एक खतरा भी रहता है। यह अपनी निम्न अवस्था में मनुष्य को भयङ्कर मतान्ध बना देती है। ऐसा मनुष्य धर्म और ईश्वर से प्रेम करने का एक ही सीधा सरल मार्ग जानता है। वह समझता है कि सभी धर्मों और उन धर्मों के प्रवंतक आचार्यों की निन्दा तथा उनसे घृणा करना यही ईश्वर और धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा का सूचक है। ऐसा करने में वह गौरव समझता है। जब कि वास्तविकता यह होती है कि ऐसे व्यक्ति का धर्म और ईश्वर से कोई नाता ही नहीं रहता। इनका लक्ष्य सिद्धान्त न होकर व्यक्ति विशेष होते हैं। ऐसे लोग यह समझने का प्रयत्न नहीं करते कि कोई व्यक्ति क्या कह रहा है? वह व्यक्ति जो कुछ कह रहा है वह सही है या गलत। उनका ध्यान एकमात्र इस बात को जानने में रहता है कि वह बात कहने वाला कौन है? ये सिद्धान्त से संचालित न होकर व्यक्ति विशेष से संचालित होते हैं। व्यक्ति विशेष को आदर्श मानने का परिणाम होता है सिद्धान्तों का विनाश फिर भी ऐसे व्यक्ति अपने को धार्मिक और ईश्वर भक्त समझते रहते हैं। ये सोचते हैं इस व्यक्ति विशेष से अलग होते ही हम धर्म और ईश्वर से अलग हो जायेंगे और जब सिद्धान्त व्यक्ति विशेष का अनुयायी हो जाता है तब ऐसे सिद्धान्तों को मानने वाला व्यक्ति भी पशु श्रेणी तक पहुँच जाता है। किन्तु ये सब खतरे भी भक्ति की प्रारम्भिक या निम्न अवस्था में ही रहते हैं। भक्ति की परिपक्वा वस्था में इस प्रकर की मतान्धता या कट्टरता की आशङ्का नहीं रह

जाती। भक्ति की परिपक्वावस्था में तो भक्त भगवान् के इतने निकट पहुँच जाता है कि वह कभी घृणा या विकार का पात्र बन ही नही सकता। ऐसा भक्त भक्ति को ही साधन और उसे ही फल समझता है। जहाँ भक्ति साधन के रूप में ग्रहण की जाती है वहां वह भक्ति की प्रारम्भिक दशा है। भक्ति की इस प्रारम्भिक अवस्था में ही वाह्य क्रिया कलाप या अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। परा या रागानुगा कक्षापन्न भक्त को किसी भी प्रकार के वाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। उसका परमात्मा के प्रति स्वाभाविक स्नेह हो जाता है। जैसे विषयी व्यक्ति का विषयों से स्वाभाविक स्नेह होता है, इसके लिये उसे किसी प्रकार का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार ऐसा भक्त भगवान् को भूलना चाहता है, पर भूल नहीं पाता ऐसे भक्तों की भक्ति को ही पुष्टि या रागानुगा भक्ति कहते हैं। जब तक जीव इस कक्षा में नहीं पहुंचता तब तक उसकी भक्ति भी साधनरूपा भक्ति ही है। यह साधन रूप भक्ति भी प्रेम पर आधारित है। हम स्वार्थ या स्वसुख को ही प्रेम समझ बैठे हैं और यही हमारी भूल है। प्रेम किसे कहते हैं इसका व्यवहार किस प्रकार किया जाय, इसकी शिक्षा हमें भक्ति द्वारा प्राप्त होती है। प्रेम की पहली शर्त है त्याग किन्तु यह त्याग ज्ञानमार्गीय त्याग से भिन्न प्रकार का है। ज्ञानमार्गीय त्याग का अर्थ है छोड़ना। किन्तु भक्ति मार्गीय त्याग में छोड़ना कुछ भी नहीं है। यहां केवल ग्रहण करना है, और यही इसकी स्वाभाविकता है। हां, यह ग्रहण अनुरागपूर्वक नहीं होना चाहिये—"सानुराग ग्रहणाभावः त्यागः" यही भक्ति मार्गीय त्याग की परिभाषा है। किसी भी वस्तुको अपनी न समझना त्याग के द्वारा भोग यही इसकी विशेषता है। इस प्रकार के त्याग के विना हम एक पग भी भक्ति मार्ग में बढ़ नहीं सकते। इस प्रकार के त्याग

के लिये हमें कुछ छोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार का त्याग उलटे हमें ग्रहण करने का उपदेश देता है। ग्रहण के प्रकार में भेद अवश्य है। हम अब तक जिन पदार्थों का ग्रहण दूसरे के लिये करते थे उनका ग्रहण अब हमें अपने लिये करना होगा। हमें अपने को और दूसरों को सबसे पहले समझना होगा। स्त्री, पुत्र, शरीरादि सभी कुछ दूसरे हैं। हम नहीं हैं, ये हमारे सम्बन्धी हैं। जब हम कहते हैं, हमारा पुत्र, हमारा शरीर, हमारी स्त्री तब हम अपने से इनका एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध सूचित करते हैं। निश्चय ही जो हमारा सम्बन्धी होगा, वह हम नहीं हो सकते। जब हम कहते हैं, हमारा मकान, हमारी गाड़ी, तब हम अपने को इन चीजों से अलग समझ कर ही ऐसा व्यवहार करते हैं। यह निश्चित है जो हमारा सम्बन्धी होगा वह हम कैसे सकते हैं और बिडम्बना यही है कि हम अपने इन्हीं सम्बन्धियों के लिये सम्पूर्ण जीवन भर सब कुछ करते हुए यहाँ से प्रस्थान कर जाते हैं। अपने लिये हम कुछ करते ही नहीं। हम तो रात-दिन सम्बन्धियों का चिन्तन करते हुए स्वयं अपने को सम्बन्धी समझने लगे हैं। स्त्री का चिन्तन करके हम स्त्री बन गये। पुत्र का चिन्तन करते हुए हम पुत्र बन गये और इस जड़ शरीर का चिन्तन करके शरीर बन गये। स्त्री, पुत्र, शरीर के कष्ट या अपमान को ही हम अपना अपमान समझते हैं। भक्तियोग केवल यह कहता है तुम जो कुछ करो अपने लिये करो, स्वरूप के लिये करो, स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियों में आसक्त न होकर स्वयं अपने में, स्वरूप में आसक्त हो जावे। जो तुम अपनी आसक्ति को गलत जगह में लगाये हो इसे ठीक जगह में लगा दो और इस आसक्ति को और गाढ़ बना दो। तुम्हारे भीतर जो स्वभाव से ही सौन्दर्य पिपासा विद्यमान है उस सौन्दर्य पिपास को नष्ट न करो, इसे और तीव्र कर दो। इसकी

गति को सही दिशा में मोड़ दो। विषयों का सेवन करो, पर सम्बन्धियों के लिये नहीं, स्वरूप के लिये। इस संसार में रहकर नाना प्रकार के सुरुचि पूर्ण पदार्थों का उपभोग जो तुम सम्बन्धियों को कराते हो यही तुम्हारे बन्धन का कारण है। इन पदार्थों का उपयोग यदि तुम सम्बन्धियों के लिये न कर के स्वरूप के लिये करो तो निश्चय ही यही पदार्थ तुम्हारे मोक्ष के कारण होंगे। शंखिया सेवन से जिस प्रकार तत्काल मृत्यु हो जाती है, किन्तु चतुर वैद्य उसी शंखिया को शुद्ध करके उसका उपयोग रसायन के रूप में करते हैं। उसी प्रकार यदि तुम समस्त लौकिक पदार्थों का विनियोग स्वरूप के प्रति करो तो ये पदार्थ तुम्हारे भगवत् प्राप्ति के साधन बन जायेंगे। हम सुगन्ध लगाते हैं, पान खाते हैं, उससे हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। बस, यह स्वसुख हमारे बन्धन का हेतु है। अपने क्षुद्रभाव को भूल कर जब तक हम सांसारिक स्वार्थों का त्याग नहीं करते, ईश्वर के प्रति आसक्त नहीं होते, हम यह निश्चय नहीं कर लेते कि एक मात्र भगवान् ही प्रेम के उपयुक्त पात्र हैं नश्वर जड़ पदार्थ प्रेम का पात्र कभी हो ही नहीं सकता, तब तक हमारा प्रवेश भक्ति की सीमा में नहीं हो सकता। हमें यह जान लेना होगा कि नाशवान वस्तु न तो प्रेम कर सकती है और न तो नाशवान वस्तु पर कभी प्रेम किया जा सकता है। भक्त को यह जान लेना आवश्यक होता है कि वह जड़ शरीर मात्र नहीं हैं, वह सम्बन्धी नहीं स्वरूप है इसे केवल जानना ही पर्याप्त नहीं है इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना पड़ता है। इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करना ही भक्ति है। भक्ति का अर्थ भाग या हिस्सा भी होता है, ऐसा व्यक्ति भगवान् का भागी या हिस्सेदार बन जाता है। ईश्वर के अनन्त गुणों का भी वह हिस्से-दार होता है। उसमें यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य का प्रादुर्भाव हो जाता

है। वह ईश्वर को छोड़कर दूसरी वस्तु से प्रेम कर ही नहीं सकता। वह यह अनुभव कर लेता है कि ईश्वर को छोड़ कर प्रेम दूसरी जगह कहीं टिक ही नहीं सकता। प्रश्न है तब संसार के विभिन्न प्रेमों का प्रयोजन क्या है? इसका सरल और स्वाभाविक उत्तर यह है कि इन विभिन्न प्रेम के सोपानों में से होकर ही हम उस यथार्थ प्रेम की तरफ अग्रसर हो सकते हैं यह प्रेम ही हमें उस यथार्थ प्रेम की उपलब्धि के लिये प्रेरित करता है। संसार के पदार्थों से प्रेम करने पर हमें बार-बार अपनी गलती मालूम पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है इस प्रेम में कोई त्रुटि थी, हम इस प्रेम के द्वारा जो वस्तु प्राप्त करना चाहते थे, वह वस्तु हमारे हाथों से निकल गई। हम फिर सावधान होकर आगे बढ़ते हैं और निश्चय करते हैं कि पहले की भूल अब न होगी, किन्तु वही भूल फिर होती है। और इस प्रकार हम आगे बढ़ते जाते हैं। और अन्त में हमें निराश होकर इस प्रेम की व्यर्थता को स्वीकार करना पड़ता है और तभी हमें प्रकाश की एक लघुरेखा दिखलाई पड़ती है। यदि योग्य गुरु और भगवद् भक्त सन्तों का सहारा मिल गया तो उनके सहारे बढ़ने पर हमें उस प्रेम की भी उपलब्धि हो सकती है जिस प्रेम में कभी विकार की सम्भावना नहीं है। ऐसा प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। इस संसार में प्रेम के जो विविध स्तर दिखलाई पड़ते हैं भले ही वह अपने बच्चों, स्त्री या शरीर के प्रति ही क्यों न हो? वह स्वार्थ पर आधारित होने से पाशविक प्रेम है। इस संसारी प्रेम को प्रेम कहना ही पाप है पूर्णतया निःस्वार्थ प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। और केवल ईश्वर सम्बन्धी ही प्रेम ऐसा प्रेम हो सकता है। स्वयं परमात्मा ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। इस संसार को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर लेना पतन की पराकाष्ठा है। ऐसा मनुष्य ऊँचा कभी उठ ही नहीं सकता।

वह तो सदा इन्द्रियों का गुलाम बना रहेगा। ऐसे जीवन से तो मृत्यु सर्वथा श्रेष्ठ है। भक्त यह समझ लेता है कि हमें इन्द्रियों, मन या संसार का दास बनकर नहीं रहना है। इन नाशवान भोगों से भी कोई ऊँची वस्तु है। वह उस दिव्य ज्योति की झलक पाकर कृतार्थ हो जाना चाहता है। हमारी दृष्टि जब तक संसार की संकुचित वस्तुओं तक सीमित है तब तक हमें धर्म या परमात्मा से क्या मतलब? जब हम यहाँ की प्रत्येक वस्तु से तृप्त हो जाते हैं या ऊब जाते हैं फिर भी हमारा असंतोष बढ़ता जाता है। तब हमारी दृष्टि इस जगत से परे दौड़ती है। इसलिए यह आवश्यक है कि जल्दी से जल्दी इस संसार के खिलौनों से निपट कर हम भगवान् की तरफ प्रवृत्त हों। जब हमें भगवान् की आवश्यकता प्रतीत होगी, तभी हम धर्म के पथ पर अग्रसर होंगे। अभी तो हम धर्म या ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं समझते। किसी वस्तु की आवश्यकता की पहचान यही है कि हम उसके बिना जीवित न रह सकें। हमें हवा की आवश्यकता है, अन्न, जल, वस्त्र की आवश्यकता है। हम समझते हैं इनके बिना हम जीवित नहीं रह सकते, ऐसा ही जब हमें ईश्वर के सम्बन्ध में लगने लगे, जब हम यह समझ लें कि उसे पाये बिना हम जी नहीं सकते तब समझना चाहिए कि हमारी भक्ति प्रारम्भ हो रही है। पहले हमें अपने से पूँछना होगा कि हम चाहते क्या हैं! ईश्वर या विषय, और यह प्रश्न तभी उठेगा जब हम अपने को समझते हों, हम हैं क्या? स्वभाव के ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। हमें जिस वस्तु का अभाव प्रतीत होगा वही वस्तु हमारे जीवन का आलम्बन या आधार बन जावेगी। देखना है कि हमें क्या कभी इस जीवन में परमात्मा का अभाव भी प्रतीत हुआ है। यदि नहीं हुआ है तो निश्चय ही समझ लेना चाहिए हमारा महान् विनाश है। मोह या अज्ञान के कारण यह जीव

अपने को जड़ शरीर मात्र समझता है और इस शरीर की आवश्यकता को ही अपनी आवश्यकता समझता है। शरीर सम्बन्धी वस्तुओं के अभाव को ही अभाव समझ कर उन्हें ही अपने जीवन का आलम्बन विभाव मान लेता है और जीवन भर इसी अभाव की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण पहले जीव को उपदेश के द्वारा स्वभाव ज्ञान कराते थे स्वभाव ज्ञान के बाद अभाव ज्ञान स्वतः हो जाता है और तब आलम्बन विभाव के रूप में परमात्मा को प्रतिष्ठित कर देते थे। कुछ ऐसे भी दैवी जीव आपकी शरण में आते थे जिन्हें देखते ही आप श्री उनके स्वभाव को जान जाते थे। लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम में परिणत कर देना आचार्यों या गुरु शक्ति का कार्य होता है। यह प्रेम उसी को प्राप्त होता है जिसे ईश्वर की चाह हो। इस प्रकार की प्रेम प्राप्ति के लिए, ईश्वर के लिए व्याकुल होना होगा, तभी ईश्वर की प्राप्ति होगी, पुस्तकों के रटने से कोई पण्डित नहीं होता, किन्तु इस प्रेम के एक अक्षर को पढ़ लेने मात्र से व्यक्ति पण्डित हो जाता है। धर्म की बातें करने से पूर्व हमें पहले अपने को टटोलना चाहिए, देखना चाहिए कि क्या हममें ईश्वर प्राप्ति की व्याकुलता या लालसा है? क्या हम ईश्वर के लिए उसी प्रकार व्याकुल हो जाते हैं जिस प्रकार सांसारिक विषयों के न मिलने पर विषयों के लिए व्याकुल होते हैं। यदि ऐसा नहीं हैं तो निश्चय ही अभी हम धर्म के पथ में एक पग रखने के भी अधिकारी नहीं हैं। हमारा साध्य या लक्ष्य ईश्वर होना चाहिए संसार नहीं। किन्तु हम तो संसार को साध्य और ईश्वर को उसका साधन बना बैठे हैं। ऐसे धार्मिक बनने की अपेक्षा तो हमारा नास्तिक बन जाना श्रेष्ठ है। ऐसे धार्मिकों से वे नास्तिक निश्चय ही श्रेष्ठ हैं जो ईश्वर को संसार का साधन न बनाकर उसकी सत्ता का ही निषेध करते हैं ऐसे नास्तिकों से समाज या धर्म को कोई खतरा नहीं रहता

किन्तु ईश्वर को साधन समझकर धर्म पथ में प्रवृत्त होनेवाला व्यक्ति ईश्वर के नाम पर नाना प्रकार के अनर्थों का सृजन करता है। ईश्वर को साध्य समझ कर उसके लिए व्याकुल हो जाना यही भक्ति का सर्वोच्च आदर्श होना चाहिए भक्त इस जगत् और इन इन्द्रियों को ही माध्यम बनाकर धीरे-धीरे ईश्वर तक पहुँच जाता है, यही भक्ति मार्ग की ज्ञान मार्ग से विलक्षणता है।

शास्त्रों में भक्त को ईश्वर तक पहुँचने के लिए पहले प्रतीक या प्रतिमा की ईश्वर के रूप में उपासना करना आवश्यक बतलाया गया है। प्रतीक का अर्थ होता है वे वस्तुएँ जो ब्रह्म के स्थान में उपास्य रूप से ग्रहण की जाती हैं। इस संबंध में भगवान् रामानुजाचार्य का कहना है कि जो वस्तु ब्रह्म नहीं है उसमें ब्रह्म बुद्धि करके ब्रह्म का अनुसन्धान करना प्रतीकोपासना है 'अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्या अनुसन्धानं' भगवान् शङ्कराचार्य के मत से प्रतीकोपासना का अर्थ है ब्रह्म के स्थान में किसी ऐसी वस्तु की उपासना करना जो कुछ या अधिक अंश में ब्रह्म के समान हो पर स्वयं ब्रह्म न हो। जैसे-मन, आदित्य या आकाश को ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करना। प्रतीक शब्द का अर्थ ही होता है—बाहर की ओर जाना। किन्तु यदि साधक उपासना के द्वारा अन्तर्मुख न होकर बहिर्मुख होता जाता है। उपासना के द्वारा उसकी भेद बुद्धि बढ़ती जाती है तब ऐसी उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि कैसे होगी? इसलिए श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों ने ईश्वर को प्रतीक मानकर ईश्वरोपासना करने का निषेध किया है। आप कहते हैं, ये प्रतीक, प्रतीक नहीं किन्तु स्वयं ईश्वर हैं। वैदिक आदर्श प्रतीकोपासना न होकर ईश्वरोपासना है। आप कहते हैं तुम पूजा किसी भी वस्तु की करो पर उसे प्रतीक समझ कर नहीं ईश्वर समझ कर। तुम मूर्ति को भूल जावो, उसमें केवल ईश्वर का दर्शन करो। किसी प्रतिमा का आरोप ईश्वर पर मत

करो। किन्तु प्रतिमा को ईश्वर के रूप में देखो। उस प्रतिमा से भिन्न ईश्वर कोई दूसरी वस्तु है ऐसा मत समझो। तुम प्रतीक (बाहर) की तरफ न जाकर स्वरूप (अन्तर्मुख) की तरफ आओ। इसीलिए वल्लभ सम्प्रदाय में भगवान् की मूर्तियों को मूर्ति न कह कर स्वरूप कहा जाता है। आचार्य द्वारा उपदिष्ट सेवा प्रणाली सर्वथा अन्य मार्गों द्वारा प्रचलित मूर्ति पूजा या प्रतीकोपासना से भिन्न है। आपके मतानुसार मूर्ति में मूर्ति रूप से भगवान् स्वयं विराजते हैं। मूर्ति मूर्ति नहीं है, वे स्वयं भगवान् हैं। मूर्ति की सेवा से हमें भगवान् की प्राप्ति होगी, ऐसी बात नहीं है—आप कहते हैं स्वयं भगवान् ही इस रूप में इस संकल्प के साथ प्रकट हुए हैं कि यदि तुम हमारी सेवा करोगे तो हम तुम्हारा उद्धार कर देंगे। भगवान् के श्री विग्रह को मूर्ति या प्रतिमा समझना महान् अपराध है। यह मूर्ति हमें जब तक आनन्दमात्र करपाद मुखोदरादि के रूप में चैतन्यमय प्रतीत नहीं होती तब तक यह साधन है और जब यह भक्त को सच्चिदानन्द के रूप में प्रतीत होने लगे तब यही फल है। जहाँ स्वयं फलस्वरूप भगवान् ही भक्त के कल्याण के लिए साधन बन जाते हैं वही पुष्टिमार्ग है।

फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते।

जब तक जीव का अहंकार या ममत्व-अवशिष्ट है समर्पण पूर्ण नहीं हुआ है तब तब भगवान् स्वयं साधन बन कर भक्त का कल्याण करते हैं। निवेदन के पश्चात् समर्पण के पूर्ण होते ही साधन रूप से प्रतीत होनेवाली वही भगवत् मूर्ति फलरूप से प्रतीत होने होने लगती हैं। इसलिए यदि वैष्णवों के घर में ठाकुर जी विराज रहे हैं तो उन्हें निश्चय ही यह समझना चाहिए कि वे भगवान् इस सङ्कल्प के साथ स्वयं साधन बनकर मूर्ति रूप से पधारे हैं कि हमें इस जीव का उद्धार करना है। जिस प्रकार व्रज में भगवान् के प्रकट

होने पर व्रज भक्तों ने नाना प्रकार के उत्सव किए थे उसी प्रकार नित्य आनन्दमग्न होकर वैष्णवों को नाना प्रकार के उत्सव करने चाहिए। यदि घर में भगवान् का स्वरूप विराज रहा हो और फिर भी वैष्णव के हृदय में भगवान् के विराजने का उल्लास न हो तो गुरु के समीप जाकर आनन्द के प्रतिबन्धक को दूर कराना चाहिए। व्रज में प्रकट होकर जिस प्रकार भगवान् ने अविद्या रूपी पूतना को नष्ट किया था उसी प्रकार सेव्य स्वरूप भगवान् भक्त की अविद्या को स्वयं नष्ट कर देते हैं। जिस प्रकार वसुदेव के मुख से उत्पात श्रवण कर श्रीनन्द हरि के शरण गये थे उसी प्रकार गुरु के मुख से भक्ति मार्ग के प्रतिबन्धकों का ज्ञान प्राप्त करके एक मात्र भगवान् की शरण में जाना चाहिए। जिस तरह आसक्ति से संचित भगवदनुपयोगी गृहरूप शकट को भगवान् ने भक्ति रूप अपने चरणों से दूर फेंक दिया था। उसी प्रकार भगवान् भक्त की भगवदनुपयोगी वस्तुओं को स्वतः दूर कर देते हैं। भगवत् साक्षात्कार का प्रतिबन्धक रजोगुणात्मा तृणावर्तका भगवान् ने जिस प्रकार बध किया था उसी प्रकार भगवान् स्वयं भक्त के रजो गुण को नष्ट कर देते हैं। जिस प्रकार प्रभु ने माँ यशोदा को विश्व रूप दर्शन के द्वारा अपनी महिमा का ज्ञान कराया था उसी प्रकार भक्त को अपना अनुभव कराते हैं। सब का निष्कर्ष यह है कि वैष्णवों को भगवदीयों के मुख से गुण लीला विशिष्ट प्रभु के तत्तत् नामों का श्रवण कर दुःसङ्ग वर्जन पूर्वक उन-उन लीलाओं के स्वरुप गुण स्मरण पूर्वक उनका बारम्बार अनुसन्धान करना चाहिए। जैसे गोबर्द्धनोद्धरणधीरनाम लेकर किस प्रकार श्यामसुन्दर ने अपने बाम कर कमल पर श्री गोबर्द्धन को धारण किया था और उस समय सखाओं तथा व्रज-वासियों के आमोद-प्रमोद के लिए भगवान् ने क्या-क्या किया था इस सब बातों का स्मरण करना चाहिये। भगवान् के दो जानु ही सुतल

लोक हैं 'द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेः' इन वचनों से ऐसा सिद्ध होता है। इस सुतल लोक में ही असुरों का निवास है। जानु रिङ्गण लीला के द्वारा भगवान् अज्ञात सुतल लोकवासी दैत्यों का जिस प्रकार मर्दन करते हैं ठीक इसी प्रकार सेव्यस्वरूप भगवान् भक्तों के बहुत से अज्ञात आसुरी भावों को नष्ट कर देते हैं। चौर्यादि प्रसङ्ग में जब व्रज सुन्दरियों ने मातृचरणों से भगवान् की शिकायत की तब मातु श्री को स्नेह की अधिकता के कारण भगवान् में दोष ही नहीं दिखलाई पड़े। उसी प्रकार ज्ञान रहित भगवद् भक्त भी भजन स्वभाव के कारण भगवान् में किसी भी प्रकार के दोषों का दर्शन नहीं करता। मृत्तिका भक्षण के प्रसङ्ग में भगवान् ने मातृचरणों से स्पष्ट ही झूठ बोला था। फिर भी नन्दरानी को भगवान् में दोषबुद्धि नहीं हुई यद्यपि भगवान् का कहना था कि हे माँ! सर्व साधारण में प्रतीत होने वाला भक्षण रूप धर्म मुझमें नहीं है। खाना-पीना तो मनुष्यों का काम है, मेरा नहीं, फिर भी ये अज्ञानी बालक इस बात को न समझकर मुझ पर दोषारोपण कर रहे हैं। अशन कारणीभूत क्षुधा मुझमें है ही नहीं।

नाहं भक्षितवानम्ब, एते मिथ्याभिशंसिनः।

यही भगवान् के कथन का तात्पर्य है। तब प्रश्न होता है—क्षुधितः सन्नश्नाति भक्तेन दत्तम् अश्नात्येव।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं योमे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥

इन सब वाक्यों का तात्पर्य क्या है। यदि भगवान् खाते नहीं तो उन्हें सामग्री अङ्गीकार कराने का अर्थ क्या? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि अशन का अर्थ भक्षण न होकर केवल भोग मात्र है नहीं तो, पत्रं पुष्पं इत्यादि वाक्यों में पुष्प का संग्रह भगवान् कभी न करते। पुष्प या पत्र खाने की वस्तु नहीं है, भगवान् के कहने

का तात्पर्य केवल इतना ही कि भक्ति पूर्वक दी हुई भक्त की वस्तु को मैं स्वीकार कर लेता हूं। भगवान् को वस्तुकी आवश्यकता ही क्या है? वे तो केवल भाव मात्र के भूखे होते हैं। इतना ही नहीं भगवान् तो यहाँ तक कहते हैं जो मेरा जिस प्रकार भजन करता है उसका उसी प्रकार भजन मैं भी करता हूं। बात यह है कि भगवान् भाव के समुद्र हैं और यह जीव उसी भाव की एक क्षुद्र अभिव्यक्ति। जिस तरह समुद्र में छोटा सा ढेला फेंकने पर उसका जल तरङ्ग के रूप में फैलता हुआ पूरे समुद्र में हलचल या गति पहुंचाता है उसी तरह हमारे हृदय में उठा हुआ छोटा सा भाव भी उस भाव समुद्र परमात्मा को विचलित कर देता है। यह भाव हमारे हृदय की वस्तु है। जब हम भाव पूर्वक किसी वस्तु को परमात्मा को देते हैं तब उस वस्तु को प्रभु भी हृदय से अङ्गीकार करते हैं हृदय का स्थान शास्त्रों में परमाणु तुल्यमाना गया है। हृदय द्वारा दी हुई वस्तु को जब भगवान् हृदय से ग्रहण करते हैं तब अत्यल्प वस्तु भी पर्याप्त हो जाती है। भाव रहित होकर सारा विश्व भी भगवान् को समर्पित कर दिया जावे तो उन्हें अल्प होगा। जीव का यह भाव ही एक मात्र भगवान् के सन्तोष का साधन हैं, नही तो जिसकी पत्नी लक्ष्मी है जिसका वाहन गरुण है जिसकी स्तुति सरस्वती भी नहीं कर सकती ऐसे भगवान् को जीव क्या कभी बाह्य साधनों से सन्तुष्ट कर सकता है। जब आचार्य कहते है जीव को भगवत् सेवा करनी चाहिये। इससे भगवान् को सुख होता है। तब आचार्य का तात्पर्य क्या रहता है इसे भी समझ लेना चाहिये। आर्य समाजी कहते हैं, खिलाता है जो सब जग को, उसे कैसे खिलाऊं मैं? यह बात सोलह आने सत्य है और उसे हमारे शास्त्र और ऋषि भी अच्छी प्रकार जानते थे। फिर भी उन्हों ने कहा कि जीव भगवान् के सुख का विचार करता है, जीव द्वारा

दी गयी वस्तुओं को भगवान् अङ्गीकार करते हैं और उससे भगवान् को सुख होता है। आखिर इस सबका तात्पर्य क्या ? वास्तविकता यह है कि जीव अंश है और भगवान् अंशी, जीव आत्मा है भगवान् परमात्मा। यह जीवात्मा भगवान् का शरीर है। भगवान् शरीरी हैं। यस्य आत्मा शरीरं, इत्यादि श्रुतियों से यह बात सिद्ध होती है! जिस तरह शरीर में कष्ट होने से शरीरी (आत्मा) को कष्ट का अनुभव होता है, शरीर के अंश विशेष अंगुली में कष्ट होने पर पूरे शरीर में वेदना का अनुभव होता है उसी प्रकार इस जीवात्मा का दुःख ही भगवान् का दुःख है। इस जीवात्मा के सुखी होते ही परमात्मा सुखी हो जाता है। पुत्र का सुख ही पिता का सुख है। अब प्रश्न यह है कि वह जीवात्मा दुःखी क्यों है ? इसका उत्तर शास्त्र यह देते हैं अनात्म पदार्थों का चिन्तन ही जीवात्मा के दुःखों का मुख्य हेतु है। इन अनात्म (जड़) पदार्थों का चिन्तन करते करते यह जीवात्मा भी अनात्मा (जड़) हो गया। बस, इन अनात्म पदार्थों का यदि यह जीवात्मा चिन्तन न करे, अपने को इन अनात्म पदार्थों का सम्बन्धी न समझे बस, यह सुखी हो जावेगा। दुःखी जीवात्मा को मातृ-पितृ रूपा भगवती श्रुति वारंबार उपदेश देती है जीवात्मा ! तू जो कुछ तेरे पास है उसे श्रद्धा पूर्वक दे डाल, समर्पित कर दे। यदि श्रद्धा नहीं है तो भय या लज्जा से ही इसे दे डाल। किन्तु देने की आदत डाल। अनात्म पदार्थों को यदि तू इसी प्रकार देता रहा तो सम्भव है देने का तुझे अभ्यास पड़ जावे। बिना दिये तू रह न सके और आगे चलकर ऐसा भी हो सकता है कि एक दिन तू अपने आप का इस परम प्रेमास्पद आत्मा का भी समर्पण कर दे। तेरा लक्ष्य आत्म समर्पण होना चाहिये और तभी तू सुखी होगा। 'श्रद्धया दातव्यम्' इत्यादि श्रुतियों का यही स्वारस्य है। जब तक यह जीव आत्मा से सम्बन्धित न होगा अपने को आत्मा

न समझेगा, ब्रह्म सम्बन्धी न होगा, तब तक इसका उद्धार होना असम्भव है। आचार्य के मत से यह ब्रह्म सम्बन्ध ही एक मात्र जीवात्मा के कल्याण का हेतु है। मैं आत्मा हूं अनात्मा (जड़) शरीर मात्र नहीं हूं, मैं इन स्त्री पुत्रादि का सम्बन्धी नहीं हूं; मैं परमात्मा का सम्बन्धी हूं, इसका सही रूप में ज्ञान हो जाना ही ब्रह्म सम्बन्ध है। यह ब्रह्म सम्बन्ध चाहे ज्ञान से हो या अज्ञान से, पर ब्रह्म सम्बन्ध होना चाहिये वह किसी प्रकार से क्यों न हो, होना अवश्य चाहिये। बिना ब्रह्म सम्बन्ध के जीव भगवत् सेवा का अधिकारी हो ही नहीं सकता। ब्रह्म सम्बन्धी जीव ही भगवत् सेवा या भगवत् सुख का विचार कर सकता है और इस प्रकार के ब्रह्म सम्बन्ध होने के लिये जीव का भगवत् शरण में जाना आवश्यक होता है। शरणागति के पश्चात् जब जीव अनात्म पदार्थों का पूर्ण रूप से भगवान् के प्रति निवेदन कर देता है तभी वह ब्रह्म सम्बन्ध का अधिकारी होता है निवेदन का अर्थ ज्ञापन होता है। हमारी समस्त वस्तु भगवान की है, एक मात्र भगवान् ही इसके स्वामी हैं, इसे निःसंकोच रूप से हृदय से स्वीकार कर लेना यही निवेदन है। निवेदन के पश्चात् समर्पण होता है। निवेदन एक प्रकार की प्रतिज्ञा है और इस प्रतिज्ञा को कार्य रूप में परिणित करना ही समर्पण है। जिस मात्रा में हमारा समर्पण होगा उसी के अनुपात से हमें भगवल्लीला की अनुभूति होगी। इस प्रकार अनात्म पदार्थों का समर्पण करने के पश्चात् जीवात्मा स्वयं अपने को अर्थात् इस आत्मा को भी समर्पित कर कृतार्थ हो जाता है। जब तक हम अनात्म पदार्थों का समर्पण नहीं कर देते तब तक इस परम प्रेमास्पद आत्मा का समर्पण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। सर्वस्व समर्पण कर देने पर भी समर्पण कर्त्ता यह जीवात्मा स्वयं असमर्पित ही रह जाता है। तब भगवान् इसे स्वयं अङ्गीकार कर लेते हैं। तथ्य तो

यह है कि इस प्रकार के जीव का वरण भगवान् स्वयं करते हैं। 'यमेवेष वृजुते तेन लभ्यः' अर्थात् वह परमात्मा जब इस जीवात्मा का वरण करता है तब यह जीवात्मा भगवान् को प्राप्त कर लेता है। परमात्माकृत वरण ही जीवात्मा की भगवत्प्राप्ति का साधक है यही उपर्युक्त श्रुति का तात्पर्य है। इस प्रकार के ब्रह्म सम्बन्ध से ही जीव के समस्त दोषों की निवृत्ति होती है यही आचार्य चरणों के निम्न श्लोक का आशय है।

ब्रह्म संबंधकरणात् सर्वेषाम् देह जीवयोः।
सर्व दोष निवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाः स्मृताः॥

जो जोग इस ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा को एक बाह्य क्रिया मात्र समझते हैं और दीक्षा लेने के उपरान्त अपने को समस्त विधि निषेधों से रहित मानने लगते हैं उन्हें आचार्य चरणों के इस गूढ़ आशय को अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए। वार्ताओं में हम पढ़ते हैं कि एक वैष्णव को श्रीगिरिधर जी ने ब्रह्म सम्बन्ध कराया, किन्तु जब उस वैष्णव को गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ने देखा तब आप श्री ने कहा—इसका तो ब्रह्म सम्बन्ध नहीं हुआ और स्वयं आप ने पुनः उसका ब्रह्म सम्बन्ध कराकर श्रीगिरिधर जी से कहा, अब देखो इसका ब्रह्म सम्बन्ध हुआ या नहीं और श्रीगिरिधरजी ने कहा कि पितृचरण अब तो इसका ब्रह्म सम्बन्ध हो गया। इस वार्ता से स्पष्ट पता चलता है कि ब्रह्म सम्बन्ध होने मात्र से जीव भगवल्लीला का अधिकारी हो जाता है, उसे लीलानुभूति होने लगती है। दूसरे शब्दों में उसे ठाकुर जी सानुभाव जनाने लगते हैं, उसकी समस्त क्रियायें सामान्य जीवों से विलक्षण होती हैं। उसके भाव लौकिक न रहकर अलौकिक हो जाते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से परे होकर वह भाव देह को प्राप्त कर लेता है भाव देह या सिद्ध देह के बिना प्राप्त हुए जीव भगवल्लीला का अनुभव कर ही नहीं सकता। इसे ही

तनुनवत्व या नूतन शरीर की प्राप्ति कहा जाता है। भले ही देखने में उसका स्थूल शरीर दिखलाई पड़ता हो किन्तु उस स्थूल शरीर में से उसका अध्यास निवृत्त हो चुका रहता है। वास्तविकता तो यह है कि निवेदन मात्र से देहादि में रहने वाली स्वकीयत्व बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। स्वकीयत्व अध्यास निवृत्ति पूर्वक भवदीयत्व बुद्धि का सम्पादन ही निवेदन है। इस प्रकार के निवेदन से ही प्रेम लक्षणा पराभक्ति की प्राप्ति होती है। वैष्णव को इस प्रकार के निवेदन का सतत् अनुसन्धान रखना आवश्यक होता है। निवेदन कर देने पर समस्त पदार्थों को भगवान् का समझ लेने पर पदार्थों में भगवदीयत्व बुद्धि सम्पादन कर लेने पर वैष्णव को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रह जाती। यदि निवेदन कर देने पर भी वैष्णव इष्ट वस्तु की प्राप्ति से हर्षित होता है तथा अनिष्ट वस्तु की निवृत्ति के लिए चिन्तित होता है तथा किसी भी पदार्थ में अपनत्व की बुद्धि रखता है तो इससे बहिर्मुखता प्राप्त होती है और निवेदन व्यर्थ हो जाता है तथा प्रेम लक्षणा भक्ति की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। इसीलिए परमकृपालु आचार्य चरणों ने चिन्तारूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए अपने नवरत्न ग्रन्थ में 'चिन्ता कापि न कार्या' इत्यादि उपदेश दिया है। यह निवेदन भक्ति श्रवणादि अष्टक भक्ति के अनन्तर प्राप्त होती है। आधुनिक जीवों के लिए श्रवणादि भक्तियों का ही सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। तब निवेदन रूपा नवमभक्ति की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए प्रेम लक्षणा पराभक्ति की प्राप्ति होना तो नितान्त दुष्कर है। तब आधुनिक पुष्टिस्थ जीवों को भगवत्प्राप्ति किस प्रकार हो। इसके लिए श्री मदाचार्य चरण कहते हैं 'शरणं भावयेद्धरिम्' अर्थात् भक्त्यभावेऽपि भक्तिसिद्ध्यर्थं हरिं शरणं भावयेत्। साधक को भगवान् की शरण में जाना चाहिए और उसे सतत् श्रीकृष्णः शरणं मम' इस अष्टाक्षर

मन्त्र का भावना पूर्वक जप करना चाहिए। इसका अर्थ है मम "निः-साधनस्य शरणं आश्रयः शक्याशक्य सम्पादकः श्रीकृष्णः" अर्थात् मुझ निःसाधन के समस्त पदार्थों के सम्पादक तथा एक मात्र शरण या आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण हैं। साधक को यह भावना भी करनी चाहिये कि मुझमें शास्त्र प्रसिद्ध नवविध भक्तियों का सर्वथा अभाव है, अतः मैं अपनी योग्यता के विचार से सर्वथा भगवत् प्राप्ति के अयोग्य हूँ। इसलिये नाथ! यदि आप प्रमाण बल से विचार करेंगे तो मेरा उद्धार होना सर्वथा असम्भव है। मैं निःसाधन आपकी शरण में हूँ, आप ही मेरे साधन हैं, आप जैसा चाहें वैसा करें। इस प्रकार जब वैष्णव बार-बार अपनी निःसाधनता का अनुसन्धान करता है, अपने दोषों और भगवान् के गुणों पर विचार करता है तथा मन वाणी और कर्म से भगवान् की शरण में सर्वात्मभाव से उपस्थित होता है, तब दयालु भगवान् उस जीव का प्रेमद के बल से उद्धार करते हैं।

इस प्रकार की शरणागति के लिये यह आवश्यक है, हमें भगवान् के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की आकांक्षा न हो। शरणागति के द्वारा जीव भगवान् के सम्मुख होता है, और किसी भी प्रकार से अथवा अज्ञान से जीव यदि एक बार भगवान् के सम्मुख उपस्थित हो जाय तो भगवान् की प्रतिज्ञा है कि एक क्या, करोड़ों जन्म के अपराधों को क्षमा करके उसके समस्त दोषों को निवृत्त कर उसे अङ्गीकार कर लेते हैं। पर यह शरणागति निवेदन या ब्रह्म सम्बन्ध किसी भी प्रकार से ज्ञान अथवा अज्ञान से होना अवश्य चाहिए। जो आचार्य या गुरु ब्रह्म सम्बन्ध कराते हैं उन्हें स्वयं को ब्रह्म सम्बन्धी होना चाहिए। यदि आचार्य या गुरु का स्वयं का ब्रह्म सम्बन्ध नहीं है वे अपने को स्त्रीपुत्रादि अनात्म वस्तुओं का सम्बन्धी मान रहे हैं तब निश्चय ही वे दूसरों को ब्रह्मसम्बन्धित

कैसे करेंगे ? कुछ लोग समझते हैं, यह जीवात्मा जब जन्म लेता है तब ब्रह्मसम्बन्धी नहीं रहता। आचार्य या गुरु द्वारा जब इसका ब्रह्म सम्बन्ध कराया जाता है तब वह ब्रह्मसम्बन्धी हो जाता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। यह जीवात्मा कभी भी ब्रह्म से असम्बन्धित न तो था और न रहता है। सिद्धान्त तो यह है कि यह सारा विश्व ही जड़-चेतन केवल ब्रह्म सम्बन्धी ही नहीं है किन्तु स्वयं भी ब्रह्म ही है। 'इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः' इस श्लोक की सुबोधिनी में भगवान् वल्लभाधीश कहते हैं 'यह सारा विश्व ही भगवान् है।' यह विश्व भगवान् के समान है, ऐसा समझना मध्यमाधिकारी का कार्य है। भगवान् भिन्न हैं, यह दृश्यमान विश्व भिन्न है, इस प्रकार का ज्ञान कनिष्ठाधिकारियों को होता है। भगवान् स्वयं कहते हैं— 'अहमेव न मत्तोऽन्यत् इति बुद्ध्यध्वमञ्जसा। भगवान् के अतिरिक्त भगवान् से भिन्न किसी भी पदार्थ का दर्शन करना ही परमार्थ से च्युत् हो जाना है। शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार यह सारा विश्व साक्षात् अखण्ड रूप से श्रीकृष्ण ही है। 'विषयो भगवान् विषयता मायाजन्या' समस्त घटपटादि पदार्थ स्वयं भगवान् ही हैं। जीव को भगवान् के रूप में प्रतीत नहीं होते इसका कारण माया से उत्पन्न विषयता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि जैसे सुवर्ण से बने कटक कुण्डलादि सुवर्ण से पृथक् प्रतीत होने पर भी स्वर्णार्थी की दृष्टि में उनकी सत्ता सुवर्ण से पृथक् नहीं है, उसी प्रकार जब आचार्य चरण कहते हैं कि घटपटादि भगवान् ही हैं, तब उनका तात्पर्य यह कदापि नहीं रहता कि ब्रह्मज्ञानी को घट की जगह घट न दिखलाई पड़कर भगवान् दिखलायी पड़ते हैं। यदि ऐसा होता तो शुक नारदादि जिन्होंने भागवतादि पुराणों में सृष्टि का वर्णन किया है, सृष्टि का वर्णन कदापि न करते। क्योंकि तब तो उन्हें सृष्टि के पदार्थ, पदार्थ रूप दिखलाई ही नहीं पड़ते, किन्तु भागवत

में सृष्टि का वर्णन जिसरूप में किया है उससेपता चलता है कि ये सृष्टि को उस कारण स्वरूप ब्रह्म का ही अवयव विशेष मानते थे। जैसे–द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेः' पातालमेतस्य हि पादमूलम्, अर्थात् भगवान् के दो जानु ही सुतल लोक हैं, भगवान् का चरणबिन्द ही पाताल लोक है, इत्यादि। इस तरह कारणस्वरूप भगवान् से अभिन्न कार्यरूप जगत् का दर्शन, यही ब्रह्म ज्ञानियों की रीति है। इस तरह यह सारा विश्व ही ब्रह्मसम्बन्धी है, फिर भी अपने को अज्ञान के कारण ब्रह्मसम्बन्धी मानता नहीं। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का सम्बन्धी उच्चपदाधिकारी कोई राजपुरुष हो फिर भी उस व्यक्ति को यह पता न हो कि अमुक राजपुरुष हमारा सम्बन्धी है और उस राजपुरुष से भयभीत हो रहा हो, किस प्रकार इससे अपना कार्य कराया जाय, इस चिन्ता से चिन्तित हो और कोई दूसरा व्यक्ति आकर उससे कहे, भाई! वह राजपुरुष तो तुम्हारा अत्यन्त निकट का सम्बन्धी है तब उस व्यक्ति से यह सम्बन्ध जानकर प्रथम व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है। यद्यपि राजपुरुष से इसका सम्बन्ध पहले भी था, पर इसे ज्ञात न था और यही इसके दुःख का कारण भी था। ठीक इसी प्रकार यह जीवात्मा ब्रह्म सम्बन्ध के पूर्व भी ब्रह्म सम्बन्धी ही था, किन्तु अपने को ब्रह्म सम्बन्धी मानता न था। आचार्य या गुरु के उद्बोधित करने पर उसे अपने सम्बन्ध का भान हो जाता है।

भगवत्स्वप आचार्य को इसी प्रकार के ब्रह्म सम्बन्ध की आज्ञा भगवान् ने स्वयं प्रकट होकर दी थी। भक्त का शुद्ध अन्तःकरण ही वसुदेवसत्त्व है। इस शुद्ध अन्तःकरण में ही भगवान् का आविर्भाव होता है। आचार्य चरणों के पवित्र अन्तःकरण में इस प्रकार की स्फूर्ति होना स्वाभाविक था। आचार्य चरणों ने निश्चय किया, सारे विश्व में भ्रमण कर अनात्मु पदार्थों से बँधे हुए और अपने को अनात्म समझने वाले जीवों को मैं ब्रह्म सम्बन्ध कराऊँगा और समस्त

अनर्थों से उन्हें मुक्त करूँगा। इसी का परिणाम था अनेकों जीवों का उद्धार कर आपने उन्हें दैवी बनाया था। आज पुनः आचार्य चरणों से हमें प्रेरणा लेनी होगी, हमें ब्रह्म संबंधी होना होगा। जब तक हम ब्रह्म सम्बन्धी नहीं होते, निश्चय ही भगवान् हमारे द्वारा दी गई वस्तु को अङ्गीकार न करेंगे। हम कदापि भगवत् सेवा के अधिकारी न होंगे। भगवान् हमें सानुभाव न जनावेंगे। आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इन प्रश्नों को उठाया है। श्री हरिरायचरण-जिन्हें हम प्रमेयमार्गी कहते हैं, एक जगह अपनी 'वाङ्मुक्तावली' में शंङ्का करते हैं कि श्री आचार्य चरण तथा प्रभुचरण द्वारा पधराये गये स्वरूप वैष्णवों को सानुभाव जनाते थे। किन्तु आधुनिक गोस्वामि बालकों द्वारा पधराये गये स्वरूप सानुभाव क्यों नहीं जनाते? इसका कारण क्या है? आप कहते हैं स्वरूप पधराने का तात्पर्य क्या है? पहले इसे समझ लेना चाहिए। आचार्य स्पर्श या दृष्टिपात मात्र से प्रतिमा या मूर्ति में स्वरूप का आविर्भाव कर देते हैं, किन्तु ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है जिसके हृदय में आलम्बन विभाव रूप से भगवान् स्वयं विराज रहे हों, अर्थात् जिसने अपने समस्त भावों का आलम्बन भगवान् को बना लिया हो। ऐसा ही व्यक्ति हृदयस्थ प्रभु को बाह्य वस्तु में पधरा सकता है। किन्तु यदि हमारे भावों का आलम्बन संसार के पदार्थ बने हुए हैं, तब हम दृष्टिपात के द्वारा किस वस्तु का मूर्ति या प्रतिमा में प्रवेश करावेंगे। श्री हरिराय चरण कहते हैं—ऐसी स्थिति में यदि वैष्णव के हृदय के समस्त भावों का आलम्बन भगवान् हो चुके हैं तो वह स्वयं भगवान् के हृदयस्थ स्वरूप को बाह्य मूर्ति में पधराकर भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। अन्तः प्रविष्ट भगवान् स्वरूपस्थ होकर उस जीव को सानुभाव जनावेंगे, किन्तु दुर्भाग्य से जब गुरु या सेवक किसी के भी हृदय के समस्त भावों के आलम्बन भगवान् न होकर

सांसारिक विषय हो जाते हैं तब भगवान् का वह स्वरूप सानुभाव नहीं जनाता। इसीलिए श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों ने गुरु का लक्षण करते समय दूसरा पक्ष यह रक्खा था कि यदि योग्य गुरु न मिलें तो स्वयं ही अपने समस्त भावों का आलम्बन भगवान् को मानकर भगवान् की मूर्ति की सेवा करो और उस मूर्ति रूप में विराजमान भगवान् ही स्वयं गुरु हैं। आचार्य चरणों के गूढ़ वचनों की ही व्याख्या हमें श्री हरिराय चरणों द्वारा यहाँ प्राप्त होती है। जिन्होंने आचार्यचरणों तथा श्री हरिराय चरणों के ग्रन्थों को देखा है, उन्हें स्पष्ट भान हुआ होगा कि स्वयं आचार्य चरण ही भूतल पर अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये पुनः श्री हरिराय चरणों के रूप में प्रादुर्भूत् हुए थे। आचार्यों ने सिद्धान्त और उसका व्यवहार दोनों ही पक्षों को प्रस्तुत किया था। व्यवहार की सत्यता इस दर्शन की अपनी विशेषता है। किन्तु हमें आज जब उन दिव्य सिद्धान्तों का ही ज्ञान नहीं है तब उसका व्यावहारिक पक्ष दुर्बल हो तो इस में आश्चर्य ही क्या? मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि अपने कुछ स्वार्थों के कारण हम इन दिव्य सिद्धान्तों को नष्ट करने पर तुले बैठे हैं। हमारे इस दृढ़ निश्चय का ही यह परिणाम हो रहा है कि समाज का नवयुवक शिक्षित वर्ग सम्प्रदाय से विमुख हो रहा है। हम जिसे भ्रम से अपने सिद्धान्तों का अनुयायी समझ रहे हैं, वही हमारी जड़ को सदा-सर्वदा के लिये नष्ट कर रहे हैं और हमारे उन अज्ञ अनुयायियों की सन्तति ही उनके कदमों पर चलने से अस्वीकार कर रही है। सिद्धान्त की जगह अप सिद्धान्त, सम्प्रदाय की जगह व्यक्ति विशेष की प्रतिष्ठा के ये सब निश्चित परिणाम होते हैं। अभी भी समय है, हमें कटिबद्ध हो कर स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर आचार्य चरणों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों को अपनाना होगा। यदि हम आचरण नहीं करते तो कम से कम दूसरों के कल्याण

के लिये इन्हें इनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करना होगा। ऐसा न करके हम अपराधी बनेगें। सिद्धान्त कभी नष्ट नहीं होते, व्यक्ति विशेष को, व्यक्ति विशेष के स्वार्थों को नष्ट किया जा सकता है। इनका नष्ट होना भी स्वाभाविक है, इनके विनाशक तत्त्व इन में स्वयं में अन्तर्हित रहते है। इनके नष्ट होते ही पुनः विचार धारा अपने वास्तविक रूप में वास्तविक गति से प्रवाहित होने लगती है। उसकी गति को अवरुद्ध करने वाले व्यक्ति विशेष ही होते हैं। आचार्य चरणों के वैदिक सिद्धान्तों के अध्ययन-अध्यापन के प्रति विद्वानों और छात्रों की जिज्ञासा का समाप्त हो जाना हमारे लिये महान् अमङ्गल का सूचक है। फिर भी हम प्रसुप्त हैं, जैसे हमें इसका ज्ञान ही न हो। हमारा सम्बन्ध समाज के प्रतिभा शाली वर्ग से विच्छिन्न हो चुका है। हम तो उन थोड़े से वृद्ध-वृद्धाओं के मुखापेक्षी हो रहे हैं, जिन्हें न तो धर्म से मतलब है, न सम्प्रदाय से। जिनके लिये अज्ञान ही सब कुछ है। उनके इस अज्ञान को ही हम श्रद्धा समझ बैठे हैं और इस अज्ञान का पोषण ही अपना कर्त्तव्य। जैसे हमारा जगत् हम, हमारी आकाक्षांयें, हमारा भविष्य सब कुछ इन्हीं तक सीमित है। हम यह भूल ही गये हैं कि जब कोई सम्प्रदाय या धर्म विद्वत् भोग्य नहीं रह जाता तब उसका अस्तित्त्व या जीवन समाप्त हो जाता है। भले ही बीज रूप से वह नष्ट नहीं होता, किन्तु उस पर विचारकों की आस्था नहीं रह जाती। इस लिये सब से आवश्यक है कि पुष्टि मार्गीय आचार्यों ने जिस परम्परा का प्रवर्तन किया था उसे हम आगे बढ़ावें। धर्म को सही रूप से समझना सर्वाधिक आवश्यक होता है अन्यथा यदि अधर्म को ही धर्म समझ कर हम प्रवृत्त हो रहे हैं तो ऐसी प्रवृत्ति घोर तामसी होगी। दिव्य प्रवृत्तियां ही मानव जीवन में उपयोगी होती हैं। प्रवृत्तियों का दिव्यीकरण ही आचार्य चरणों का लक्ष्य रहा है। हमें सही रूप में

आचार्य चरणों के सिद्धान्तों को समझना होगा। जिज्ञासा ही हमारा प्रथम सोपान होना चाहिये। जिज्ञासा में तर्क सहायक होगा, तर्क से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। समाज के सामने तर्क सम्मत धर्म को प्रस्तुत करना होगा। हमें अब अपनी अधिक छिपाने की प्रकृति को दूर करना होगा। हमें पुनः आचार्य चरणों की इस वाणी को दुहराना होगा।

'अभयं तेन कर्त्तव्यं स मां पृच्छतु सर्वथा'। डरने की आवश्यकता नहीं। जिसे जो कुछ भी पूंछना हो मुझसे निर्भय हो कर पूंछे, यही वैदिक परम्परा है। इसी का प्रचार व प्रसार श्रीमद् वल्लभाचार्य चरणों ने तथा आप के पूर्ववर्ती पुष्टि मार्गीय आचार्यों ने किया था। इसे हमें पुनः अपनाना होगा। हमें इस बात को हृदय से निकाल देना होगा, कि आचार्य ने कुछ ऐसे नये सिद्धान्तों की स्थापना की, जो बिलकुल नूतन हैं, विलक्षण हैं;। जिनका वैदिक परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है। भारतीय आचार्यों, भगवद्भक्तों की यह विशेषता रही है कि उपनिषदों में वर्णित तत्त्वों का इन्होंने केवल हार्दवृत्ति से साक्षात्कार मात्र किया था। ये आचार्य ऐसा दावा पेश नहीं करते कि हमने ऐसी विलक्षण वस्तु का पता लगा लिया है, जो सर्वथा अब तक अज्ञात थी। यह कार्य तो उन विदेशी नकली सन्तों का होता है जो चमत्कार के बल पर अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाना चाहते हैं। सातवें आसमान पर बैठ कर ताला खोलना, बन्द करना विदेशी साधकों का काम है। हमारे यहाँ भक्ति मार्ग में इसे बदमाशी कही गयी है। सूर या तुलसी ऐसा दावा कभी पेश नहीं करते कि उन्होंने किसी नूतन सत्य का साक्षात्कार किया हो। श्रीमद्वल्लभाचार्य वैदिक आचार्य थे। उपनिषदों में वर्णित सिद्धान्तों का ही आप ने बौद्धिक वृत्ति से ग्रहण कर हार्दवृत्ति से उनका साक्षात् कार किया था। यही हमारे भक्ति मार्ग की विशेषता

है। काल प्रवाह के कारण जिन वैदिक सिद्धान्तों को सही रूप में तत्कालीन समाज समझ ने में असमर्थ हो रहा था, उन्हीं सिद्धातों की आप ने जन मानस में वास्तविक रूप से पुनः प्रतिष्ठा की थी और उनके इस कार्य को गोस्वामी श्री विट्ठल नाथ ने आगे बढ़ाया था। समय और परिस्थितियों के कारण निश्चय ही सम्प्रदाय के बाह्य रूप में गोस्वामी श्री विट्ठल नाथ को भी परिवर्तन करना पड़ा था। किन्तु इस बाह्य परिवर्तन से सिद्धान्त में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। श्रीमद् वल्लभाचार्य चरणों के समय सेवा में भावनाओं की प्रधानता थी। आप श्री ने भावनाओं के साथ क्रिया की भी प्रधानता की सेवा का विस्तार भी आप श्री ने ही किया। नेग-भोग का विस्तार भी आप द्वारा ही हुआ। जहाँ श्रीमद् वल्लभाचार्य चरणों ने सेवा के विप्रयोग पक्ष को दृढ़ किया था वहीं आप ने संयोग पक्ष को दृढ़ किया। पितृ वरणों द्वारा प्रवर्तित निर्गुण भक्ति मार्ग को सगुण भक्ति मार्ग के रूप में परिणित करना भी आप का ही कार्य था। आचार्य शक्ति की जगह ईश्वर शक्ति को प्रधान रूप से स्थिर करना आप का लक्ष्य था किन्तु समय के अनुसार हमें पुनः ईश्वर शक्ति की जगह आचार्य शक्ति को जागृत करना होगा। तत्कालीन समाज मुगल दरबारों के वैभव से चकित होकर उनकी तरफ आकर्षित हो रहा था। उस समाज का आकर्षण केन्द्र दिल्ली और आगरा का मुगल दरबार था, जहाँ काञ्चन और कामिनी, सुरा और सौन्दर्य का बोल बाला था। आप श्री ने देखा कि दरबारों के इस आकर्षण से हिन्दू जनता अपने को भूल कर नष्ट-भ्रष्ट हो जावेगी। इसके लिये आवश्यक था लौकिक बादशाहों के बादशाह, अलौकिक गोलोकवासी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य को भूतल पर उतार कर संगीत और वैभव से उसे ओत-प्रोत कर जनता के मन को हठात् अपनी तरफ आकर्षित कर लेना। तत्कालीन जन मानस को अपनी तरफ आकर्षित कर

लेना समाज के नेतृत्व के लिये आवश्यक होता है। इसी का परिणाम था कि भगवान् की मोहिनी छवि ने हिन्दू जनता को ही नहीं, मुस्लिम जनता को भी आकर्षित किया। दरबारों का सारा आकर्षण समाप्त हो गया। आप के अनुयायी कुम्भन दास जैसे भक्तों ने सम्राट अकबर के आग्रह और अनुरोध भरे आमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। वार्ताओं से तत्कालीन समाज की स्थिति का पता हमें अच्छी तरह चलता है। किस प्रकार छीतू चौबे, गोस्वामी विट्ठलनाथ को छलने के लिये राख भरे नारियल और खोटी मुद्रा को लेकर उनके सामने उपस्थित हुए थे। आचार्य ने सोचा कि इस में इस बेचारे जीव का क्या अपराध ! यह नारियल और खोटी मुद्रा तो हमारी वर्तमान स्थिति का निदर्शन मात्र है। हमारी संस्कृति भी इसी नारियल की भांति बाहर से देखने में सुन्दर भले ही प्रतीत हो रही है किन्तु इसके भीतर राख आ गयी है। और यह खोटी मुद्रा भले ही समाज के उपयोगी नहीं रह गयी है किन्तु जिस श्री की मांगलिक मुद्रा से यह मुद्रित है हमें उस श्री का निरादर नहीं करना है। हमें साहस के साथ इन दोनों वस्तुओं को अङ्गीकार करना होगा। इसमें इस ब्राह्मण का क्या अपराध ? और यह जानते हुए यह मुद्रा खोटी है नारियल में राख भरी हुई है उन दोनों वस्तुओं को आप श्री ने अङ्गीकार कर लिया। प्रकारान्तर से आप ने छीतू चौबे को सूचित कर दिया कि खोटी वस्तुओं को यदि हम अङ्गीकार न करेंगे तो इन्हें दूसरा कौन अङ्गीकार करेगा। तुम स्वयं बहुत दिनों पर आये, पहले आये होते तो मैं तुम्हें भी अङ्गीकार कर लेता, कहौ, 'नीके हौ' आगे आउ, बहुत दिनन पर मिले, मानो गोस्वामी जी ने कहा जीवात्मा तू स्वभाव से ही नीका है, अच्छा है, ये तो केवल दोषी वस्तुओं के संसर्ग से तू अपने को दोषी मानने लगा है, तू दोषी कब था ? 'बहुत दिनन पर मिल्यो' से

आचार्य का तात्पर्य यह था कि तू हजारों वर्षों से मुझ से बिछुड़ा हुआ है। पूर्व सुकृतों से सामने भी हुआ तो संकोच या झिझक कैसी ? अब तो आगे आ, और मेरी तो प्रतिज्ञा ही है कि एक बार किसी प्रकार ज्ञान अथवा अज्ञान से जीव सामने हो गया तो फिर एक क्या करोड़ों जन्म के अपराधों को भी क्षमा कर देता हूँ। आचार्य के करुणा का सागर जीव के ऊपर स्वतः स्वाभाविक रूप से उमड़ पड़ा। उन्होंने जीव को सेवक की जगह स्वामी बना दिया, रङ्क की जगह राजा कर दिया। किन्तु इस घटना से प्रभुचरणों को गहरी ठेस लगी। उन्होंने निश्चय किया, शुद्ध लक्ष्मी की प्रष्ठिा कर भारतीय संस्कृति के भीतर की इस राख को दूर करना होगा, और किस प्रकार इस राख को उन्होंने दूर किया यह कृपालु पाठकों से छिपा नहीं है पितृ चरणों द्वारा स्थापित् सम्प्रदाय को दृढ़ करने का सम्पूर्ण श्रेय आप को है। हिन्दी जगत् के सुप्रसिद्ध 'अष्टछाप' भक्त कवि आपही पिता पुत्रों के आशीर्वाद के फल थे। चार भक्त कवि आचार्य चरणों के सेवक थे तथा शेष चार प्रभु चरणों के इन्हीं पिता-पुत्रों ने उन पर अपनी छाप लगायी थी, इस लिये उन्हें अष्ट छाप भी कहा जाता है। रहीम आलम और ताज जैसे भक्तों को पैदा करना इन्हीं पिता पुत्रों का कार्य था। दिल्ली से बढ़ती हुई मुस्लिम संस्कृति को वहीं रोकने के लिये आचार्य ने मथुरा को अपना केन्द्र बनाया। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने न तो हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा लगाया, न तो किसी का खण्डन-मण्डन किया। उन्होंने केवल मन मोहक आराध्य की कल्पना के द्वारा जनता की घृणा वृत्ति का विनाश कर के उस में प्रेम तत्त्व को प्रतिष्ठित कर दिया। इसी का परिणाम था कि अकबर वीरबल के साथ बैठ कर कृष्ण भक्ति के पद बनाया करता था। 'रहीम' और 'रसखान, कृष्ण प्रेम में मग्न होकर अपना सर्वस्व भगवान् के चरणों में समर्पण कर

चुके थे। ताज मुसलमानी होकर भी हिन्दुआनी बनने को तैयार थी। आपने ऐसा वातावरण पैदा कर दिया जिसने केवल समाज की घृणा वृत्ति का ही विनाश नहीं किया, किन्तु समाज के परस्पर विरोधी वर्ग अत्यन्त सन्निकट आ गये। वार्ताओं में हम पढ़ते हैं कि किस प्रकार मुगल बादशाह ने एक यन्त्र मथुरा में टांग रखा था और उस यन्त्र के नीचे होकर जो भी निकलता था उसकी शिखा कट जाती थी और उसकी जगह दाढ़ी निकल आती थी। आप श्री ने दिल्ली में भी वैसा ही एक यन्त्र टंगवा दिया, जिसके परिणाम स्वरूप जो उधर से निकलता उसकी दाढ़ी कट जाती थी और उसकी जगह शिखा निकल आती थी। इस वार्ता को पढ़ कर कोई भी व्यक्ति हँसेगा। उसे यह कोरी गप्प मालूम पड़ेगी। किन्तु हम पहले बता चुके हैं प्रत्येक वार्तायें जिस रूप में उपलब्ध हैं वे किसी न किसी ऊँचे सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं। इस वार्ता से पता चलता है, मुगल बादशाहों का यन्त्र जिस वेग से हिन्दुओं को मुस्लिम संस्कृति में दीक्षित कर रहा था, उसके प्रतिकार स्वरूप आपका यन्त्र मुसलमानों में हिन्दू संस्कृति के प्रति आस्था उत्पन्न करता था और अन्त में हम देखते हैं कि बाध्य होकर मुस्लिम शासकों को अपने यन्त्र को हटाना पड़ा था, वर्णाश्रम व्यवस्था का कट्टर समर्थक ब्राह्मण वर्ग किस प्रकार अछूतों से घृणा करता था और वे ही अछूत जब मुसलमान हो जाते थे तब बाध्य होकर उन ब्राह्मणों को भी उनका सम्मान करना पड़ता था। इस घातक स्थिति को आचार्य चरण ने अच्छी तरह समझा। आप श्री ने निश्चय किया, यह स्थिति यदि अधिक दिनों तक रही तो वर्णाश्रम व्यवस्था तो नष्ट होगी ही, इसके साथ ही हिन्दू संस्कृति भी नष्ट हो जावेगी। किस प्रकार इस स्थिति का अन्त आप श्री ने किया, यह हमारे पाठकों से छिपा नहीं है। आप का

नाम ही 'स्त्रीशूद्राद्यु धृति क्षमः' पड़ गया। स्त्री शूद्रों का उद्धार भी आपके कार्यों में एक था। इसकी पराकाष्ठा हमें तब देखने को मिलती है जब एक छीपा (चमार) एक ब्राह्मण के हाथ की वस्तु को लेने से इसलिये इनकार करता है कि वह ब्राह्मण वैष्णव नहीं है, ऐसा वैष्णव जिसका एक मात्र आदर्श आत्मसमर्पण है। ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय यदि भूतल पर आचार्य का प्राकट्य न हुआ होता तो आज हमारे इस देश में वर्णाश्रम व्यवस्था और हिन्दू संस्कृति का नाम भी अवशिष्ट न रहता। देश की स्थिति आज दूसरी होती। आप के प्रयत्न से उस समय भारत के प्रत्येक आँगन में भगवान् श्री कृष्ण की मन मोहक छवि की अराधना होने लगी, सारा भारत कृष्णमय हो गया। भारत का प्रत्येक बालक कृष्ण बने, प्रत्येक जननी को यशोदा का गौरव प्राप्त हो, यही एक मात्र आपका लक्ष्य था। इस भगवत्प्राप्तिका साधन आपश्री ने मानव की उन्हीं रागात्मक वृत्तियों को बनाया जिन्हें शाङ्कर वेदान्ती भगवत् प्राप्तिका प्रतिबन्धक घोषित कर चुके थे। आपका यह कार्य बहुत ही बड़ा क्रान्तिकारी था। भक्त के लिये सर्वप्रथम आत्म समर्पण की शर्त थी। भगवान् की प्राप्ति प्रयत्न नहीं प्रेम से होती है, यह आप का उद्घोष था। आपके मतानुसार जीवके राग-भोग और श्रृंगार ही मुख्य बन्धन के हेतु हैं। जीव की समस्त प्रवृत्तियाँ राग-भोग और श्रृंगार मूलक ही होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ जब संसार की तरफ उन्मुख होती हैं तब उसका पतन होता है और यही जब भगवान की तरफ उन्मुख होती है तब उसका कल्याण। प्रवृत्तियों का दिव्यी करण विश्व को वल्लभाचार्य चरणों की सबसे बड़ी देन है। विषय सुख को परमानन्द सुख के रूप में परिणत करना आचार्य चरणों की अपनी प्रणाली रही है, विकार पूर्ण लौकिक भाव ही बन्धन के कारण हैं। ये लौकिक

भाव ही जब भगवान् से सम्बन्धित हो जाते हैं तब अपने लौकिक स्वरूप को छोड़ कर भगवन्मय हो जाते हैं। संसार के सभी सम्बन्ध लौकिक दृष्टि से चाहे वे भले हों या बुरे किन्तु जब वे भगवान् से जुट जाते हैं तब अलौकिक हो जाते हैं। भक्त की यही कामना रहती है कि हमारी प्रीति के विभिन्न सम्बन्ध जो इस संसार के साथ जुटे हैं भगवान् के साथ जुट जावें। इसीलिये आप श्री ने भगवान् के धर्म प्रधान उस धर्मी स्वरूप की प्रतिष्ठा की, जिस स्वरूप की तरफ जीव का आकर्षण सहज हो जावे। श्रीनाथ जी के स्वरूप की प्रतिष्ठा के द्वारा सहज ही आचार्य ने दैवी जीवों को आकर्षित कर लिया। अपने राग भोग और श्रृंगार के समस्त साधनों को भगवान् के राग, भोग और शृंगार का साधन बनाकर जीव कृतार्थ हो गया। आपका यह कार्य विशुद्ध प्रेम से परिचालित था। समाज कल्याण का यह मार्ग जितना सरल था उतना ही खतरे से भी पूर्ण था। आचार्य इस खतरे को जानते थे, वे समझते थे "चढ़ै तो चाखै प्रेम रस, गिरै तो चकना चूर" इसी लिये इन्होंने बार-बार जीवों को सावधान किया। फिर भी जीवों के असावधान होते ही खतरा क्रमशः बढ़ने लगा। आचार्य चरणों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का न जानना ही इसका मुख्य हेतु था। जहाँ भाव की प्रधानता थी, भावना ही सब कुछ थी, वहां क्रिया का बोल बाला हो गया। भगवान् के राग भोग की कोई सीमा न थी, न हो सकती थी, किन्तु जब राग भोग का सम्बन्ध भगवान् से न रहकर जीव से होने लगा, भगवान् जीव के राग-भोग और श्रृंगार के साधन बन गये तब यह स्वभाविक था कि जीव की चित्तवृत्तियाँ भगवद् विमुख होने लगीं, जिससे बचने का आदेश आप श्री ने स्वयं अपने पुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी जैसे परम भगवद्भक्त और आचार्य को दिया था, उनके भावी वंशज भी उसी के शिकार हो गये। जिस

आचार्य शक्ति के अधीन भगवान् थे वह आचार्य शक्ति भगवान् के अधीन हो गयी। इस आचार्य शक्ति का पराजित हो जाना ही आज के समस्त विपदाओं का मूल है। भगवान् को साधन न बना कर उन्हें साध्य के रूप में प्रतिष्ठित करना आचार्य शक्ति का कार्य है। इस आचार्य शक्ति को पुनः जागृत करना होगा। आचार्य शक्ति की प्राप्ति किये बिना धर्म या सम्प्रदाय की सुरक्षा हम कभी नहीं कर सकते। भगवान् को परतंत्र बनाना इस आचार्य शक्ति का कार्य है। ऐसे आचार्य अदेय दान दत्त होते हैं, किन्तु जब तक हम आत्मसमर्पण नहीं कर देते, भगवान् परतन्त्र नहीं हो सकते।

'यो मां यथा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

यही भगवान् की घोषणा है। भगवत् स्वरूप भगवद् दर्शन को हमें साध्य रूप में स्वीकार करना होगा। कोरी मनगढ़न्त भावुक कल्पनाओं के द्वारा हम प्रबुद्ध समाजका नेतृत्व न कर सकेंगे। संसारिक वस्तुओं का ही त्याग नहीं, आत्मा तक का त्याग यही भगवत् सेवा का आदर्श है। आत्म समर्पण के पूर्व जीव भगवत् सेवा का अधिकारी नहीं हो सकता। आचार्य चरणों की इत बातको हमेशा हमें स्मरण रखना होगा। यद्यपि संसार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने के लिये भारत वर्ष में वल्लभाचार्य के पूर्व भी तीन मार्ग प्रचलित थे, जिन्हें क्रमशः कर्म ज्ञान और भक्ति मार्ग कहा जाता था वैदिक काल में ही तीनों मार्गों की सत्ता थी, किन्तु आचार्य चरणों के समय में समाज इन्हें परस्पर विरोधी समझ रहा था। भगवान् शङ्कराचार्य ने कर्म ज्ञान और भक्ति के जिस विरोध की चर्चा की थीउसे समाज का अप्रबुद्धवर्ग समझ न सका, इतना ही नहीं, लोग कर्म ज्ञान और भक्ति को परस्पर विरोधी समझ रहे थे। ज्ञानी भक्त नहीं हो सकता और भक्त ज्ञानी। यही तत्कालीन समाज की धारणा थी। ज्ञानी या भक्त का कर्म से कोई

नाता ही नहीं है, पूर्ण रूप से अकर्मण्य हो जाना यही ज्ञानी और भक्त की पहचान थी। साधु का अपढ़ या अशिक्षित तथा ज्ञानी का अकर्मण्य होना समाज के लिये गौरव की वस्तु थी।

अजगर करै न चाकरी पंक्षी करै न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

यह प्रगाढ़ भगवन्निष्ठा का सूचक पद प्रमादियों की अकर्मण्यता को प्रोत्साहित करने का साधन बन चुका था। कर्म, ज्ञान या भक्ति परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, इनमें नाम मात्र का भी विरोध नहीं है। पूर्ण आत्म त्याग ही इनका आदर्श है, इस वैदिक सिद्धान्त को लोग भूल चुके थे। व्यक्तिगत सुख ही कर्म ज्ञान और भक्ति का आदर्श है, यही तत्कालीन समाज की मान्यता थी। ज्ञानी भक्ति की निन्दा करता था तो भक्त ज्ञान की। मुक्ति को भक्ति की दासी या भक्ति को मुक्ति की पनिहारिन बनाना, ज्ञानी और भक्त का रोज का कार्य था। ज्ञान और भक्ति के इस झगड़े से तत्कालीन सन्त समाज भी अछूता न था। सन्त साहित्य में इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इस तरह तत्कालीन समाज वैदिक आदर्शों से च्युत् हो चुका था। वैदिक आदर्श की स्थापना ही श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों का लक्ष्य था। आप श्री ने कर्म ज्ञान उपासना तथा भक्ति का प्रतिपादन करने वाले समस्त ग्रन्थों को प्रमाण रूप से स्वीकार कर लिया और विरोध की जड़ को ही काट दिया। किसी सम्प्रदाय या धर्म की पूर्णता के लिये कर्म, ज्ञान और उपासना तथा भक्ति आवश्यक है। जिन सम्प्रदायों में इनमें से किसी एक का प्राधान्य है, आप के मत से वे वैदिक सम्प्रदाय नहीं हो सकते और चाहे जो कुछ हों। कर्म ज्ञान और उपासना की त्रिपुटी के बिना पूर्णतम चरित्र की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। ये तीनों ही मानव को एक ही आदर्श तक ले जाते हैं। अनासक्ति पूर्वक किया गया

कर्म भी भगवत् प्राप्ति का ही साधक है। ऐसी प्रवृत्ति भी निवृत्ति मूलक होती है। ऐसा कर्म ज्ञान से भी श्रेष्ठ होता है। किन्तु जब तक अहम् या व्यक्तित्व का पूर्ण विलयन या समर्पण नहीं हो जाता, क्या कभी इस प्रकार के कर्म हो सकते हैं? इस अहम् की निवृत्ति ही तो ज्ञान का भी लक्ष्य है। परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण, यही भक्ति है। इस तरह कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का लक्ष्य एक मात्र इस क्षुद्र अहम् या व्यक्तित्व का लोप करना है। बिना इसके लुप्त हुए जीव आनन्द या भगवत् प्राप्ति का अधिकारी कभी नहीं हो सकता। इस क्षुद्र व्यक्तित्व से छुटकारा पाना ही मुक्ति है। बिना इस से छुट कारा पाये भगवल्लीला की अनुभूति हो ही नहीं सकती। इस छुटकारा को ही मोक्ष, मुक्ति या ब्रह्मानन्द प्राप्ति कहते हैं और ज्ञान भक्ति तथा कर्म का यही परम आदर्श है।

शङ्कर वेदान्तियों की मुक्ति भी यही है। भजनानन्द या भगवल्लीला की अनुभूति इसके आगे की कक्षा है। यह तर्क की वस्तु नहीं है, अनुभव की वस्तु है। यहाँ का द्वैत हजारों अद्वैतों से श्रेष्ठ है। इस स्थिति का जीव भगवान् के साथ नाना प्रकार की कामनाओं का उपभोग करता है। यह स्थित ब्रह्मवित् होकर ही प्राप्त की जा सकती है। ब्रह्मवित् ही पर पुरुष को प्राप्त कर सकता है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' यही श्रुति का तात्पर्य है। भगवान् के साथ दिव्य कामनाओं का उपभोग आचार्य की दृष्टि में यही जीव की मुक्ति है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिये लौकिक प्रवृत्तियों का त्याग होना आवश्यक है। वैदिक संस्कृति में दो शब्द मिलते हैं, प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति का अर्थ होता है—किसी वस्तु की ओर प्रवर्तन या गमन और निवृत्ति का अर्थ होता है, निवर्तन या प्रत्यागमन। मैं और मेरे पन की तुष्टि ही प्रवृत्ति का कार्य है, इसे ही संसार कहते हैं।

जीवात्मा विश्व कीसमस्त वस्तुओं को इस 'मैं' रूपी केन्द्र में संग्रहीत करना चाहता है, किन्तु यदि किसी एक व्यक्ति को विश्व के समस्त पदार्थ प्राप्त हो जावें तब भी वह इन से सन्तुष्ट नहीं होता। उसके 'अहम्' की पूर्ति नहीं होती। यह मधुर 'अहम्' ही जीव के बन्धन या संसार का कारण है। जब यह वृत्ति घटने लगती है तभी निवृत्ति का उदय होता है, यह निवृत्ति ही समस्त धर्मों या नैतिकता का आधार है। यहीं से धर्म आरम्भ होता है। यद्यपि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही कर्म स्वरूप हैं, फिर भी प्रवृत्ति असत् कर्म हैं और निवृत्ति सत्कर्म, आत्मत्याग में ही इस निवृत्ति की पूर्णता है। सत् कर्मों का सर्वोच्च फल भी यह निवृत्ति ही है, ऐसा व्यक्ति चाहे किसी भी शास्त्र को न पढ़ा हो, उसका विश्वास ईश्वर में हो या न हो, भले ही वह मन्दिरों में जाता हो या कभी न जाता हो, वह भले ही अपने जीवन में एक बार भी ईश्वर की प्रार्थना न किया हो, किन्तु इस सत्कार्य की शक्ति से ही वह उस अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ भक्त या ज्ञानी अपनी भक्ति तथा ज्ञान के द्वारा पहुँचते हैं। इस तरह ज्ञानी, कर्मी और भक्त तीनों का एक ही आदर्श है और वह आदर्श है सम्पूर्ण रूप से आत्मत्याग। श्री मद्वल्लभाचार्य जी के शब्दों में "गृहं सर्वात्मना त्याज्यम्" सम्पूर्ण रूप से गृह त्याग ही इस निवृत्ति मार्ग का प्रथम सोपान है। जो लोग एकाएक गृहत्याग नहीं कर सकते या त्याग की इस स्थिति में नहीं पहुँच सकते, उनके लिके कृपालु आचार्य चरण दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि तुम एकाएक गृहत्याग नहीं कर सकते तो भगवत् प्रीत्यर्थ ही समस्त वस्तुओं का त्याग करने का अभ्यास डालो, इस प्रकार तुम अनर्थों से बच सकते हो। इस निवृत्ति या आत्म समर्पण के सिवाय तुम्हारे कल्याण का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

यदि हम दोनों समय मन्दिरों में भगवान् का दर्शन करते हैं, भगवत् सेवा करते हैं किन्तु हमारे जीवन में त्याग या निवृत्ति का कोई स्थान नहीं है। प्रवृत्ति और संग्रह ही हमारा लक्ष्य है। तब हम अपने मन से अपने को वैष्णव भगवद्भक्त, आस्तिक या अन्य चाहे जो कुछ भी समझते रहें, अचार्य चरणों के मतानुसार हम से वह नास्तिक जो कभी मन्दिरों में नहीं जाता, कभी प्रार्थना नहीं करता, किन्तु जिसका एक मात्र आदर्श निवृत्ति या त्याग है, हम से करोड़ों गुना श्रेष्ठ हैं। वह उस लक्ष्य पर पहुँच चुका है जिस लक्ष्य की प्राप्ति ज्ञानी और भक्त दोनों का आदर्श रहा है। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो निवृत्ति को अपना लक्ष्य बना लेता है, भले ही उसकी आस्था धर्म या दर्शन में न हो, सम्पूर्ण मानवता श्रद्धा से नत हो जाती हैं। एसे व्यक्ति के प्रति वे लोग भी जो किसी मत या सम्प्रदाय में आस्था नहीं रखते, श्रद्धावनत हुए बिना नहीं रह सकते। वहाँ किसी प्रकार के मत या सम्प्रदाय का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार का आत्म त्याग या आत्म समर्पण ही वैदिक धर्म का आदर्श रहा है। इसी निवृत्ति या आत्मत्याग का उपदेश आज से हजारों वर्ष पूर्व पीडित मानवता को भगवान् बुद्ध ने दिया था। उन्होंने ईश्वर को नहीं स्वीकार किया, फिर भी उनके इस आत्मत्याग ने सारे विश्व को प्रभावित कर दिया। इसी आत्मत्याग या आत्म समर्पण का उपदेश आचार्य चरणों ने दिया। भगवान् बुद्ध द्वारा दिया गया आत्म त्याग का उपदेश स्थिर न रह सका। उनके अनुयायी इसे आदर्श रूप में ग्रहण न कर सके। भगवान् बुद्ध का वह दिव्य सन्देश 'हीनयान' 'महायान' और 'बज्रयान' की परिधि को पार करता हुआ गुप्तसाधना और रहस्यवाद के रूप में परिणत हो गया। त्याग की जगह भोग और नैतिकता की जगह अनैतिकता उनके अनुयायियों के आदर्श हो गये। जिसका परिणाम भी अवश्यँ-

भावी था और बुद्ध द्वारा उपदिष्ट वह धर्म इतिहास की वस्तु बन गया।

इस देश से उसका अस्तित्व समाप्त हो गया, फिर भी वह जीवित रहा। उसका कारण केवल यह था कि धर्म के पीछे एक विशेष प्रकार की दार्शनिक विचार धारा थी, व्यक्ति नष्ट हो सकते हैं किन्तु किसी प्रकार की दार्शनिक विचार धारा को नष्ट नहीं किया जा सकता। दूषित व्यक्तियों के नष्ट होते ही विचार धारा पुनः बड़े वेगसे चल पड़ती है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आत्म त्याग में एक त्रुटि थी, उन्हों ने विवेक और धैर्य के रक्षण पर तो विशेष आग्रह अवश्य किया था किन्तु विवेक और धैर्य के आश्रय रूप से वे एक ऐसे तत्त्व को प्रतिष्ठित न कर सके जहां जाकर ये विवेक और धैर्य स्थिर होकर स्वयं स्वरूप लाभ करते। वे इस बात को भूल गये कि मानव का विवेक और धैर्य बिना दृढ़ आश्रय के स्थिर नहीं रह सकता। मानव विचार, मानवीय विवेक और धैर्य प्रतिक्षण परिवर्तन शील होते हैं। बिना दृढ़ आश्रय के इनका स्थिर रहना सम्भव नहीं। आचार्य चरणों ने आत्मत्याग की इस असाधारण त्रुटि को अच्छी तरह समझा था। वे जानते थे कि मानव के आत्म त्याग या आत्म समर्पण का कुछ न कुछ आधार और लक्ष्य होना आवश्यक है। आत्म त्याग किसके प्रति और क्यों किया जावे, स्वाभाविक रूप से मानव बुद्धि इन प्रश्नों का उत्तर चाहती है और इसी लिये आप श्री ने विवेक और धैर्य के आश्रय रूप से भगवान् के उस स्वरूप की प्रतिष्ठा की जहाँ पूर्ण रूप से अपने को समर्पित कर जीव कृतार्थ हो जावे। इस समर्पण में किसी प्रकार की शर्त न थी। आप के पूर्ववर्ती जो आचार्य यह कहते थे कि पवित्र या शुद्ध जीव ही ब्रह्म सम्बन्ध या भगवत् सम्बन्ध का अधिकारी है उसे आपने स्वीकार नहीं किया। शुद्धि या पवित्रता सम्पादन का एक मात्र उपाय जीवका

यह समर्पण ही था। आपका कहना है, यह आवश्यक नहीं कि जीव शुद्ध हो जाय तभी भगवान् के साथ जीवका सम्बन्ध हो। वास्तविकता यह है कि जीव का भगवान् से सम्बन्ध पहले होता है और जीव की शुद्धि बाद में। माता पुत्र से यह अपेक्षा नहीं रखती कि पुत्र मल रहित हो जाय तब हम उसे गोद में लें। अग्नि कैसा भी लोहा क्यों न हो उसे अपने सम्बन्ध मात्र से शुद्ध कर देता है और परमात्मा से सम्बन्धित होने का सबसे सरल मार्ग है आत्म समर्पण। इस आत्म समर्पण की ही निवृत्ति प्रथम सोपान है। उपनिषदों में वर्णित निवृत्ति मार्ग का पालन लोगों के लिये कठिन हो रहा था। सन्यास ही उपनिषदों में वर्णित निवृत्ति मार्ग का लक्ष्य था। सन्यास के नाम पर आचार्य चरणों के समय में पाखण्ड का बोल बाला था अपने सन्यास निर्णय नामक ग्रन्थ में इसी प्रकार के पाखण्ड पूर्ण सन्यास का आप श्री ने खण्डन किया है। वैसे वास्तविक सन्यासी की सत्य लोक में स्थिति होती है, यह आप स्वीकार करते हैं। आप कहते हैं सन्यास दो ही प्रकार का हो सकता है।

विद्वत् सन्यास, तथा विविदिषा सन्यास। अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर होने वाला सन्यास और ज्ञान प्राप्ति के लिये लिया जाने वाला सन्यास।

आपके मतानुसार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सन्यास लेने की क्या आवश्यकता ? इस लिये विद्वत् सन्यास की व्यर्थता स्वयं सिद्ध है। रहा विविदिषा सन्यास अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिये लिया जाने वाला सन्यास। उस पर आप कहते हैं इस प्रकार का सन्यास ले लेने पर भी अन्त में सन्यासी को सहायकों और साधनों की आवश्यकता पड़ती ही है। पहले सब साधन समाज स्वयं प्रस्तुत कर देता था, किन्तु अब कलियुग में साधनों के संग्रह के लिये सन्यासी को भी प्रपञ्च करने की आवश्यकता पड़ती है। दृढ़ ज्ञान न होने के कारण

ऐसा सन्यासी पाखण्ड को प्राप्त हो जाता है। अतः कलियुग में इस प्रकार का अर्थात् ज्ञान प्राप्त्यर्थ लिया गया सन्यास सन्यासी के पतन का कारण होता है। ऐसा सन्यासी सन्यास के नाम पर बड़े बड़े मठ मन्दिरों की स्थापना कर समाज में अनैतिकता का प्रचार करेगा। जिसका परिणाम होगा वे भगवद्धाम जहाँ ज्ञान वैराग्य का पोषण होता था, वे आचार्य या गुरु जो शिष्य में त्याग वृत्ति का संचार करते थे, वहीं से समूल ज्ञान, वैराग्य, त्याग और संयम का उच्छेद होगा। ये मठ मन्दिर समाज की भोग और संचय की प्रवृत्ति को जागृत करेंगे। पाठक समझ सकते हैं—आचार्य चरणों की यह स्वाभाविक आशंका किस हद तक सत्य थी।

कलियुग के दोष के कारण कर्ममार्गीय और ज्ञानमार्गीय सन्यास का आपने निषेध किया था। भक्ति मार्गीय सन्यास को कलियुग में आप आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार के सन्यास में पाखण्ड की गुञ्जायश नहीं रहती। जगत् में रहकर भी भगवत् प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति की जा सकती है, किन्तु ऐसे जीवका लक्ष्य भोग न होकर त्याग होना चाहिये। त्यागके द्वारा भोग यही उसका आदर्श होना चाहिये। ईशावास्योपनिषद् इसी बात की घोषणा कर रहा है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

मालूम पड़ता है आचार्य श्री ने उपनिषद् के इस महामंत्र को अपने जीवन में साकार किया था। यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से ढका हुआ है, जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है वह सब परमात्मा ही है, सम्पत्ति ऐश्वर्य न किसी का रहा है, न रहेगा। इसे ईश्वर का समझ कर, यह समझते हुए कि यह मेरा नहीं है, इसका उपभोग करो, जिस प्रकार राज्य की सम्पत्ति को ईमानदार राज सेवक राजा की सम्पत्ति समझकर उसका उपभोग करते हैं। धाय दूसरे के बच्चों

का पालन दूसरे का बच्चा समझ कर करती है, उसे यदि स्वामी हटा दे, तो ईमानदार सेवक चिन्तित नहीं होता, वह सोचता है ऐसा करके स्वामी ने अपना अहित किया है, वह दूसरी जगह जाकर उसी निष्ठा से सेवा करके सुखका अनुभव करता है। उसी प्रकार तुम्हारा भी लक्ष्य होना चाहिये, त्याग के द्वारा भोग।

उसी समय आचार्य ने निश्चय कर लिया था—सम्पत्ति का एकमात्र आदर्श सेवा और समर्पण होना चाहिए। सेवा और समर्पण के बिना जीव पुष्टि मार्ग (भगवत् कृपा) का अधिकारी हो ही नहीं सकता। समर्पण की अत्युत्कट भावना का ही यह परिणाम था कि गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जैसे प्रतिभाशाली आचार्य पर भी बराबर जीवन भर ऋण बना रहा। सर्वस्व समर्पण करने पर भी समर्पण न कर सकने का उत्कट विप्रयोग यही पुष्टिमार्ग का लक्ष्य है। इस प्रकार का भाव ही परमात्मा प्राप्ति का हेतु होता है। सम्पूर्ण जड़ पदार्थ, जिन्हें हम भोग्य रूप से ग्रहण करते हैं, ये परमात्मा की तुष्टि के साधन नहीं हो सकते। जड़ वस्तुयें जब एक श्रीमन्त के भी सन्तोष का हेतु नहीं हो सकती, तब इन पदार्थों के बल पर सम्राटों के भी सम्राट प्रभु को कदापि सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। हमारा यह जड़ शरीर भौतिक पदार्थों से पुष्ट और तृप्त हो सकता है। हममें शरीर और शरीरी आत्मा का भेद है। हमारा शरीर जड़ है और इसमें रहनेवाले हम चेतन। परमात्मा में शरीर और आत्मा का भेद नहीं है, वह शुद्ध चिन्मय या आनन्दमय है। इस चिन्मय शरीर की तुष्टि स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर द्वारा कभी हो ही नहीं सकती। सूक्ष्मतम जगद् के पदार्थों की भी वहाँ गति नहीं है। भावमय शरीर द्वारा ही साधक उस तत्त्व का चिन्तन या अनुसन्धान कर सकता है। इस भावमय शरीर को ही अलौकिक शरीर आनन्द प्रधान शरीर या सेवापयोगी देह कहा जाता है। इस शरीर, की प्राप्ति के बिना

जीव भगवत् सेवा कर ही नहीं सकता। सम्पूर्ण समर्पण की अपेक्षा समर्पण न कर सकने की सतत भावना ही इस भावमय देह के उदय का हेतु बनती है। हमें सतत् समर्पण न कर सकने के अभाव का अनुभव करना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि रस-स्वरूप उस प्रभु का जब हम अपने इस स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर से स्पर्श करते हैं तब भी उसे श्रम ही होता है। उस श्रम को आनन्द मानकर वे प्रभु जीव को कृतार्थ करते हैं, यह उनकी करुणा है। एक छोटे नवजात शिशु को स्पर्श करते समय जिस प्रकार हमें भय लगता है कि यह बालक दब न जावे, उसी प्रकार भगवान् के आनन्दमय विग्रह को स्पर्श करते समय भी वैष्णव को यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे इस कठोर स्पर्श से भगवान् को श्रम होता होगा। इस प्रकार की भावना से ही भावों की सिद्धि होती है—'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यतो' इस प्रकार की भावना के अतिरिक्त हम और कुछ प्रभु के लिए कर भी नहीं सकते। किन्तु आज हममें यह भावना कहाँ है। हम भगवान् को यह समझ कर सामग्री अङ्गीकार कराते हैं, जैसे यदि हम सामग्री न दें तो भगवान् भूखे रह जायँ। मानो हम भगवान् पर अनुग्रह कर रहें हैं और जब कोई भगवान् की सामग्री के लिए किसी से आग्रह करता है तब तो इसकी परा-काष्ठा हो जाती है। आचार्य जिस जीव की वस्तु को करुणा परवश होकर अङ्गीकार कर लेते थे, वह अपने को धन्य समझता था। ऐसा करने में आचार्य को श्रम होता था। अनुचित उपायों से अर्जित की की गयी सामग्री भगवान् कभी अङ्गीकार न करेंगे, ऐसी सामग्री स्पर्श दोष से दूषित होती है, आचार्य की यह घोषणा समाज में नैति-कता का प्रसार करती थी किन्तु पूर्वाचार्यों की यह परम्परा आज कहाँ है? हमारा लक्ष्य आज समर्पण है या संग्रह? इसे हमें बार बार विचारना होगा। और जब एक मात्र जड़ जगत् के स्थूल पदार्थ ही

प्राणियों के लक्ष्य हो जाते हैं तब संघर्ष होना अनिवार्य हो जाता है। यदि हम परमात्मा को चाहते हैं तो स्थूल जड़ पदार्थ से आसक्ति हटानी होगी। परमात्मा और जड़ सम्पत्ति दोनों दो ओर-छोर की वस्तु हैं, यह सनातन सत्य है। यही कारण था कि आचार्यों ने कभी भी सम्पत्ति का सम्बन्ध परमात्मा या ठाकुर जी से नहीं माना। इसका सम्बन्ध आचार्य से होता था। किन्तु उन आचार्यों का लक्ष्य इस सम्पत्ति का संग्रह नहीं, समर्पण था। इसी का परिणाम था कि ये आचार्य बराबर ऋणी रहते थे। शास्त्रों में ऋण की निन्दा की गई है, किन्तु भगवत् संबंधी इनका यह ऋण इन्हें हमेशा के लिए ऋण रहित बना देता था। अब भी समय है। हमें निश्चय कर लेना होगा कि हमें परमात्मा से प्रेम है, या सम्पत्ति से? दो में से एक को ही प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान समय में इसका सुन्दर उदाहरण प्रथम पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्य महाराज ने प्रस्तुत किया है। आपने अतुलित वैभव का मोह त्याग कर भगवान् को अपना लिया। आधुनिक गोस्वामि बालकों और आचार्यों को इससे प्रेरणा लेनी चाहिए। सम्पत्ति द्वारा ही भगवत् सेवा हो सकती है, इस धारणा को हमें निर्मूल करना होगा। वार्ताओं में हम पढ़ते हैं कि छप्पन भोग से श्रीनाथ जी उतने सन्तुष्ट नहीं हुए थे, जितने पद्मनाभदासजी के सूखे चने से। हमारा आदर्श छप्पन भोग न होकर सूखे चने होने चाहिएँ। स्थूल जगत् से हट कर हमें भाव जगत की तरफ बढ़ना चाहिए। जहाँ तक स्थूल जगत् है, स्थूल जगत् के पदार्थ हैं, हमारे भावों के विषय हैं, सब कुछ मर्यादा ही तो हैं। जिसे हम बुद्धि द्वारा सीमितकर सकते हैं जिसका विभाजन हो सकता है वह सब कुछ मर्यादा है, पुष्टि अनुभूति है, भावना है; भावना या अनुभूति का विषय नहीं। विषय हमेशा मर्यादित होगा, मर्यादा की वस्तु होगा। अनुभूति या भावना अमर्यादित होगी और यही पुष्टि

है। मर्यादा से हमें पुष्टि में आना होगा, संग्रह की जगह त्याग को अपनाना होगा। संयोग से विप्रयोग की तरफ बढ़ना होगा। इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। इसके लिए हमें सर्वप्रथम लौकिक आसक्ति का त्याग करना होगा। हमारा झूठा अहंकार ही इस आसक्ति का केन्द्र है। यह आसक्ति ही हमारे समस्त संकटों का हेतु है। इसी से समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। प्रवृत्ति इस आसक्ति का ही दूसरा रूप है। जब तक हम अनासक्त नहीं होते, निवृत्ति को अपना लक्ष नहीं बनाते, हम समाज के आदर्श कदापि नहीं हो सकते। इस तथ्य को हमें हृदयङ्गम करना होगा। अनादि काल से ही संसार में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग प्रचलित रहे हैं। प्रवृत्ति मार्ग हेय है और निवृत्ति मार्ग उपादेय। प्रेय और श्रेय शब्द से भी इसे ही उपनिषदों में कहा गया है। प्रेय का वरण करना अनर्थ का हेतु है और श्रेय का वरण ही कल्याण का हेतु है। इस श्रेय या निवृत्ति मार्ग उपदेश ही वैदिक दर्शन का आदर्श है। निवृत्ति या त्याग का अर्थ अनुराग पूर्वक स्वसुख की इच्छा से विषयों का ग्रहण न करनायही आचर्य चरणों को अभीष्ट है। इसकी पूर्णता आत्म त्याग याआत्म समर्पण में है और इसी का उपदेश पुष्टि मार्गीय आचार्यों ने दिया है, जिसके आदि प्रवर्तक भगवान् स्वयं हैं। श्रीगोस्वामी विट्ठलनाथ तक हम आत्म समर्पण की इस अविच्छिन्न धारा को अविरल गति से प्रवाहित होते देखते हैं।

यह बात अवश्य है कि अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति कभी वह धारा प्रबल वेग से प्रवाहित होती प्रतीत होती है तो कभी अत्यन्त क्षीण होकर अदृश्य हो जाती है, किन्तु अभी तक वह धारा विलुप्त नहीं हुई है, काल या समय के प्रवाह से क्षीण अवश्य हो चुकी है। हमारा आदर्श तब भी सेवा और आत्म समर्पण था और अब भी वही सेवा और आत्मसमर्पण है। हम भले ही अज्ञान के कारण

यह भूल चुके हैं कि भगवद्गृह में जिस भगवान् की हम सेवा करते हैं वही भगवान् हमारी सेवा अङ्गीकार करने के लिए नित्य नाना रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। अनात्म पदार्थों के समर्पण के बिना आत्मसमर्पण हो ही नहीं सकता। इस स्थूल बात को समझने की भी हमारी प्रज्ञा अब नहीं रह गई है और यही कारण है कि हमें यह जगत् नाना प्रकार के अमङ्गल और संघर्ष से परिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। हम अपने को जब सांसारिक वस्तुओं का दास न समझ कर इनका स्वामी समझने लगेंगे तब यह संसार हमें मधुमय प्रतीत होगा। तब हम परमात्मा के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ाओं का उपभोग करेंगे और इस स्थिति को प्राप्त करना ही हमारे जीवन का चरम आदर्श होगा। कर्म, ज्ञान और भक्ति की पूर्णता और सिद्धि भी इसी में है।

—:o:—

"अन्य सम्प्रदायाचार्यों से

आचार्य चरणों का वैशिष्ट्य"

भारतवर्ष में मुख्य रूप से चार वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय अनादि काल से विद्यमान है, जिन्हें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत के नाम से जाना जाता है। इन सम्प्रदायों के अनुयायी भी अधिक संख्या में हैं। इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक क्रमशः भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य तथा श्रीमद् वल्लभाचार्य हैं। इन चारों मतों का मूल वेद में विद्यमान है और जिन आचार्यों की चर्चा हमने ऊपर की है इन से पूर्व भी ये सम्प्रदाय या सिद्धान्त भारत में विद्यमान थे। इस के पूर्व मैंने अद्वैत और शुद्धाद्वैत मत का स्वरूप संक्षेप में दे दिया है। अब रामानुज और माध्व के दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर के तब इन चारों मतों के परस्पर मतभेद पर भी हम प्रकाश डालेंगें। भगवान् रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत मत या सम्प्रदाय का अर्थ होता है चिद-चित् विशिष्ट परमात्मा का अद्वैत। अथवा कारण रूप सूक्ष्म शरीर विशिष्ट परमात्मा का कार्यरूप स्थूल शरीर विशिष्ट परमात्मा से अभेद। आप श्री ने पदार्थों को अचित् चित् और ईश्वर भेद से तीन प्रकार का स्वीकार किया है। अचित् पदार्थ भी प्रकृति काल और शुद्ध सत्त्व के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। प्रकृति भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भेद से तीन प्रकार की होती हैं। ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म या भगवान् परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। चित् और अचित् पदार्थ को आप ईश्वर का शरीर मानते

हैं। ईश्वर का शरीर भी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का होता है। सूक्ष्म शरीर विशिष्ट परमात्मा स्थूल जगत् का उपादान कारण होता है। परमात्मा के अप्राकृत-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शक्ति, ज्ञान और आनन्द आदि गुण होते हैं। वह परमात्मा सर्वाश्रय और व्यापक है, उस का ज्ञान या शरीर भी व्यापक है। वह परव्यूह, विभव, अन्तर्यामि आदि भेद से पाँच प्रकार का होता है। यह परमात्मा ही समस्त चेतन अचेतन पदार्थों का प्रेरक है, कर्मानुकूल फल भी यही प्रदान करता है, फिर भी स्वयं उदासीन रहता है। सम्पूर्ण जड़ और जीव वर्ग का नियन्त्रण कर्त्ता भी यही है। स्वयं समस्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण है। अचिन्त्य, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज से वह सम्पन्न है। वह केवल भक्ति लभ्य है। जड़ जगत् और चेतन जीवात्मा उस परमात्मा के शरीर हैं। शाङ्कर मत के समान आप जीव को व्यापक नहीं स्वीकार करते। आप के मतानुसार जीव अणु है और वह कर्तृत्व गुण विशिष्ट होने पर भी ईश्वर के आधीन है। स्वप्रकाश नित्य सुख स्वरूप और प्रति शरीर भिन्न भिन्न अनेक जीवों की सत्ता आप ने स्वीकार की है। बद्ध, मुक्त और नित्य भेद से ये जीव तीन प्रकार के होते हैं। ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त सभी सांसारिक जीव बद्ध हैं। जिन में अष्ट गुणों का आविर्भाव हो चुका है, जो बैकुण्ठ में भगवान् के सन्निधान में निवास करते हैं, ऐसे जीव मुक्त जीव कहे जाते हैं। जो मूलतः संसार से रहित हैं, ऐसे शेष गरुड़ादि नित्य जीव हैं। नित्य जीवों में भी अधिकार भेद के अनुसार तारतम्य बना रहता है। किन्तु मुक्त जीवों में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं रहता। इस जगत् का प्रवाह अनादि है। मुक्तावस्था में भी जीव भगवान् के साथ ऐक्य लाभ नहीं करता, किन्तु भगवत् सदृश हो जाता है। आप के मतानुसार जीव कर्त्ता, ज्ञाता, भोक्ता और आनन्द स्वरूप है। भक्ति और प्रपत्ति

यही मोक्ष के साधन हैं। भक्ति का अर्थ आप भजन बताते हैं और प्रपत्ति का अर्थ है अनन्य भाव से भगवान् के शरण में जाना। आप श्री ने कर्म और ज्ञान को भक्ति का कारण माना है। आगे चल कर रामानुज सम्प्रदाय में भी दो मत दिलखाई पड़ते हैं। एक के प्रवर्तक हैं लोकाचार्य और दूसरे के स्वयं भगवान् वेदान्त देशिकाचार्य। ये अपने अपने मतों को पुष्ट करने के लिये कपिकिशोर और मार्जार किशोर के दृष्टान्त को उपस्थित करते हैं। भगवान् लोकाचार्य का कहना है कि जिस प्रकार बिल्ली का बच्चा अपने को सर्वथा सर्वभाव से माता को समर्पण कर देता है, स्वयं किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता। माता उस अबोध शिशु को सुरक्षित गन्तव्य स्थल पर पहुँचा देती है, उसी प्रकार जब जीवात्मा भगवान् की अनन्य भाव से शरण में जाता है तब भगवान् उसे अङ्गीकार कर लेते हैं। भगवान् वेदान्तदेशिकाचार्य कहते हैं—जिस प्रकार बन्दर का बच्चा माता की शरण जाने पर भी माता को कस कर पकड़े रहता है, उसी प्रकार साधक की भी भगवान् के शरण में जाने पर भी वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए। रामानुज सम्प्रदाय के बड़कलै और टेङ्कलै मतों पर स्पष्ट ही इन आचार्यों की छाप दिखलायी पड़ती है। रामानुज मत में जीवन मुक्ति का स्थान नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को प्रमाण रूप से आप ने स्वीकार किया है। शांकर मत स्वीकृत विवर्तवाद और अनिर्वचनीय ख्याति का खण्डन कर के उसकी जगह परिणामवाद और सत्ख्याति आप स्वीकार करते हैं। इस दृश्यमान जगत् को आप भी सत्य मानते हैं। यही हैं संक्षेप में भगवान् रामानुजाचार्य के वे दिव्य सिद्धान्त, जिन से आज भी करोड़ों जीवों का कल्याण हो रहा है।

"आचार्य माध्व का मत"

आप शुद्धद्वैत वादी हैं, आप स्वतंत्र और परतंत्र भेद से दो

प्रकार के तत्त्व स्वीकार करते हैं। स्वतंत्र तत्त्व स्वयं भगवान् विष्णु हैं और भगवान् से भिन्न सभी तत्व अस्वतंत्र हैं। जीव और ब्रह्म परस्पर नितान्त भिन्न हैं। परमात्मा ही जगत् का कारण है। आप ने पांच प्रकार के भेद को स्वीकार किया है। जैसे—

१—जीवेश्वर भेद।

२—जड़ेश्वर भेद।

३—जीवजड़ भेद।

४—जीव जीव भेद।

५—जड़-जड़ भेद।

मोक्ष अवस्था में भी जीव परमेश्वर से भिन्न ही रहता है। जीव ज्ञाता है, ज्ञान उसका गुण है। मुक्ति के लिये जीव को ईश्वर का भजन अवश्य करना चाहिये। सर्वेश्वर भगवान् ही सेव्य हैं और जीव सेवक है।

भगवान् की सेवा जीव तीन प्रकार से कर सकता है, जिसमें प्रथम तप्तमुद्रा का धारण तथा द्वितीय भगवान् के नाम पर पुत्रादि का नामकरण और तृतीय शरीर वाणी और मन से भगवान् की सेवा। इस प्रकार आराधना करने पर भगवान् विष्णु प्रसन्न होकर जीव को मुक्ति प्रदान करते हैं। जगत् को आप भी सत्य स्वीकार करते हैं। शाब्द प्रमाण को ही मुख्य प्रमाण मानते हैं। ब्रह्म पुराण में आपके मत का संग्रह संक्षेप में इस प्रकार दिया गया है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत्तत्त्वतः।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्च भावंगताः॥
मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिस्तु तत्साधनम्।
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः॥

अभी तक प्रसिद्ध चारों दार्शनिक सम्प्रदायों का विवेचन हमने वेदान्त के जिज्ञासु छात्रों और विचारकों के सौकर्य के लिए किया

है। अब शुद्धाद्वैत मत के साथ परस्पर इनके मतभेद को भी अत्यन्त संक्षेप में दे रहा हूँ। शाङ्कर मत अद्वैतवाद को स्वीकार करता है। जब कि वाल्लभमत शुद्धाद्वैतवाद को। इसी प्रकार शाङ्करमत समस्त प्रमाणों की व्यावहारिक सत्ता को तो स्वीकार करता है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे किसी भी पदार्थ की नहीं स्वीकार करता। वाल्लभमत में प्रमाणादि सभी परमार्थतः सत्य हैं केवल ब्रह्म ही अपनी इच्छा से नाना प्रकार के प्रमाण रूप को धारण कर विचित्र लीलायें किया करता है। शाङ्कर वेदान्त जहाँ प्रमाणों की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके भी उनकी संख्या प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शाब्द अर्थापत्ति अनुपलब्धि के भेद से संख्या छः स्वीकार करता है वहीं शुद्धाद्वैत वेदान्त केवल शाब्द प्रमाण को ही मुख्य रूप से स्वीकार करता है। शाब्द प्रमाण के अनुकूल होने से अन्य प्रमाणों की प्रामाणिकता को भी यह वेदान्त स्वीकार करता है, किन्तु उनकी संख्या निश्चित नहीं है। शब्द प्रमाण में भी जब तक अखण्ड शुद्ध ब्रह्म का बोध नहीं हो जाता तभी तक साङ्गवेद श्रीमद्भगवत्गीता, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा और भगवान् व्यास की समाधिभाषा को ही आप परम प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। शाङ्कर मत प्रस्थानत्रय को स्वीकार करता है, जब हमारे यहाँ प्रस्थान चतुष्ठय स्वीकार किया जाता है। अन्य प्रमाणों की अपेक्षा दोनों ही मतों में शाब्दप्रमाण की श्रेष्ठता स्वीकृत है। शाङ्करमत वेदों की भी पारमार्थिकता को स्वीकार नहीं करता किन्तु शुद्धाद्वैत मत के अनुसार वेद साक्षात् नारायण हैं। "वेदो नारायणः साक्षात्" इस वचन के अनुसार वेदों की परमार्थिकता निर्विवाद है। दोनों ही मतों में ब्रह्म को प्रमेय स्वीकार किया गया है। इतना अन्तर अवश्य है कि शांकर मत में उसे निर्गुण, निराकार माना गया है, जब कि शुद्धाद्वैत मत के अनुसार ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट है। ब्रह्म के

वे समस्त धर्म भी स्वाभाविक और ब्रह्म से अभिन्न हैं। शाङ्करमत में ब्रह्म आनन्दमय नहीं है, आदन्दमय से भी परे ब्रह्म अन्य ही है। किन्तु इस मत में आनन्दमय को ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है। इससे परे अन्य कोई ब्रह्म है ही नहीं। शाङ्कर मत की तरह सगुण निर्गुण की कल्पना तथा परा, अपरा विद्या के भेद इस मत में स्वीकृत नहीं है। विरुद्ध धर्माश्रयी ब्रह्म में सभी कुछ सङ्गत हो सकता है। शाङ्कर मत की इस मान्यता का भी शुद्धाद्वैत वेदान्त खण्डन करता है कि परमार्थतः अकर्त्ता ब्रह्म ही माया के कारण कर्त्ता जैसा प्रतीत हो रहा है। इस मत के अनुसार ब्रह्म ही स्वतः निमित्तो पादान कारण होने से कर्त्ता है। शाङ्कर मत में जगत् के मिथ्या होने से ब्रह्म के साथ जगत् का अभेद नहीं बन सकता। किन्तु इस मत के अनुसार जगत् के सत्य होने से ब्रह्म और जगत् में नितरां अभेद है। अविद्या के वश से ब्रह्म ही जीव रूप में प्रतीत हो रहा है। विद्या से अविद्या की निवृत्ति होने से जीव का नाश हो जाता है, इस बात को भी यह स्वीकार नहीं करता। इसके मतानुसार सत् चित् गुप्तानन्द ब्रह्म से जिस प्रकार अग्नि से विस्फुल्लिङ्ग की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अंशात्मक जीव का निर्गमन होता है और वह जीव नित्य है, अविद्या के नाश होने से केवल संसार का नाश होता है जीव का नहीं। शांकर मत के अनुसार जीव चैतन्य तथा ज्ञानस्वरूप है, किन्तु इस मत के अनुसार जीव ज्ञाता भी है। शांकर मत में जीव विभु है। किन्तु बुद्धि के सम्बन्ध से अणुरूप प्रतीत होता है। इस मत के अनुसार जीव व्यापक होने पर भी आनन्दांश के तिरोधान हो जाने पर अणुरूप हो जाता है। पुनः आनन्दांश का प्रादुर्भाव होने पर इसमें व्यापकता आ जाती है, इस प्रकार जीव अणु है। जीव में कर्तृत्व भोक्तृत्व शांकर मत में बुद्धि के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। जीव में कर्तृत्व भोक्तृत्व पारमार्थिक नहीं है, इस बात को यह दर्शन

स्वीकार नहीं करता। ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न हुआ कर्तृत्व भोक्तृत्व जीव में स्वाभाविक है। इसी प्रकार यह वेदान्त जीव को शांकरमत के समान प्रतिबिम्ब रूप या आभास नहीं स्वीकार करता, अपितु जीव ब्रह्म का अंश और गर्भदास है। माया के कारण जीव अनेक प्रतीत हो रहा है, इस बात को भी यह दर्शन नहीं स्वीकार करता, इसके मतानुसार ब्रह्म ही अपनी इच्छा से अनेक रूप धारण कर विचित्र लीलायें करता है। जहदजहत् लक्षणा के द्वारा अभेद सिद्धि न मानकर अंशाशिभाव से जीव के साथ ब्रह्म का अभेद इस दर्शन को अभीष्ट है। शांकरमत के समान यह दर्शन द्वैत को अविद्या का कार्य न मानकर द्वैत ज्ञान को अविद्या का कार्य मानता है। इसीतरह शांकरमत में जगत् और संसार का भेद स्वीकार नहीं किया गया है। किन्तु इस मत के अनुसार जगत भिन्न है, संसार भिन्न है, जगत् भगवत् कार्य होने से सत् और भगवद्रूप है, इसका कदापि नाश नहीं होता। अविद्या का कार्य होने से संसार असत् और ज्ञान से नाश्य है। अध्यारोप और अपवाद को न मान कर यह दर्शन आविर्भाव और तिरोभाव को स्वीकार करता है। अनिर्वचनीय ख्याति की जगह अख्याति और अन्यथा ख्याति, विवर्तवाद की जगह अविकृत परिणाम की स्वीकृति इस दर्शन की अपनी विशेषता। शाङ्कर मत में कर्म उपासना और ज्ञान इस प्रकार साधनों के क्रम को स्वीकार किया गया है, किन्तु इस मत में कर्म, उपासना, ज्ञान और भक्ति साधनों का यह क्रम स्वीकृत है। उपासना भक्ति से पृथक् वस्तु है। कर्म, उपासना और ज्ञान भक्ति के अङ्ग हैं और ये शाङ्कर मत के समान मिथ्या नहीं हैं, अपितु ब्रह्म स्वरूप ही हैं। इसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप को लेकर भी इन दर्शनों में परस्पर मत भेद है। अविद्या निवृत्ति को ही शाङ्कर वेदान्त में मोक्ष स्वीकार किया गया है। इसे ही कैवल्य भी कहते हैं।

किन्तु इस मत के अनुसार आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति पूर्वक परमानन्द प्राप्ति को ही मोक्ष स्वीकार किया गया है। प्रवेशात्मक सायुज्य ही इस दर्शन का चरम लक्ष्य है। जहां शङ्कर वेदान्त में माया अविद्या आदि स्वीकार करके अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है, वहीं भगवान् की इच्छा या भगवान् की लीला मानकर यह दर्शन अद्वैत का प्रतिपादन करता है। सबको तुच्छ मानकर या मिथ्या मानकर जहाँ अद्वैत वेदान्त अपने सिद्धान्त को दृढ़ करता है, वहीं शुद्धा द्वैत वेदान्त एक ही परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर वही परमात्मा अपनी इच्छा से नाना रूपों में परिणत हो रहा है, ऐसा मानकर शुद्धा द्वैत पक्ष को दृढ़ करता है। इसी प्रकार भगवान् शङ्कराचार्य ने जहां श्रुतियों में निर्गुण, सगुण, उपजीव्य, उपास्य, परब्रह्म इत्यादि मानकर व्यवस्था दृढ़ की है, वहीं आचार्य चरण का यह कहना कि वेद के एक अक्षर को भी अन्यथा कल्पित करना महान् अपराध है, वस्तुतः ब्रह्म ही समस्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय है और ऐसा स्वीकार कर लेने पर अपने आप समस्त श्रुत्यर्थ सुसङ्गत हो जाते हैं, अत्यन्त महत्त्व रखता है। भले ही शङ्कराचार्य की मान्यतायें उस समय और परिस्थिति के अनुसार उचित रही हों, किन्तु जिस समय में आचार्य चरणों का भूतल पर प्राकट्य हुआ था, इन सिद्धान्तों की पुनः नये रूप में व्याख्या करना आवश्यक था और यही कार्य श्री मद्वल्लभाचार्य चरणों ने किया था।

रामानुज और माध्व से भी यह दर्शन अलग हो जाता है। माध्व तो शुद्धद्वैत वादी हैं। इस कारण उनसे वल्लभ मत का मतभेद होना स्वाभाविक है। किन्तु रामानुज यद्यपि द्वैतवादी नहीं हैं फिर भी मूल में ही चित् और अचित् तत्त्व को स्वीकार कर लेने से अद्वैत दर्शनों से दूर हट जाते हैं। जगत् की सत्यता जीव का अंश तथा उसका अणु होना जीव की अनेकता, उसका कर्तृत्व भोक्तृत्व

मोक्ष दशा में भी भक्ति की सम्भावना, ज्ञान से भक्ति की अधिकता, प्रायः सभी वैष्णवा चार्यों को समान रूप से अभीष्ट है। ये सभी आचार्य एक मत से शाङ्कर के मायावाद के खण्डन में दत्तचित्त दिखलायी पड़ते हैं। इनका मुख्य खण्डनीय विषय यह मायावाद रहा है। ये सभी वैष्णवाचार्य वेद के अनन्तर श्रीमद्भागवत, महाभारत, रामायण, नारदपाञ्चरात्र, नारदभक्तिसूत्र तथा शाण्डिल्यसूत्र और अन्य वैष्णवागम ग्रन्थों को प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। विशेष कर श्री रामानुजाचार्य रामयण को श्री माध्वाचार्य महाभारत को तथा श्री मद्वल्लभाचार्य श्रीमद्भागवत को वेद तुल्य स्वीकार करते हैं। आज भी इन सम्प्रदायों के आचार्य अष्टाक्षर, पञ्चाक्षर, और द्वादशाक्षर मन्त्रोपदेश द्वारा अपने अनुयायियों का कल्याण कर रहे हैं। इन सम्प्रदायों के मन्दिरों में भगवान् की सेवा के प्रकार के दर्शन मात्र से जीवों में भक्ति और श्रद्धा का उदय होता है। आज भी सम्प्रदायों के ये आचार्यपीठधर्म और संस्कृति के सुदृढ़ प्रहरी बने हुए हैं। जो कुछ शिथिलता दिखलाई पड़ रही है उसका कारण तत्तत् सम्प्रदायों के वे भावुक अनुयायी हैं जो एक मात्र धर्म और ईश्वर को अपने मनोरंजन की वस्तु समझे हुए हैं। आचार्यों ने जिस सेवा और आत्मसमर्पण या शरणागति का उपदेश दिया है, यदि हम उनके अनुयायी इसे सही रूप में समझें तो आज भी धर्म और संस्कृति को दूसरों के आक्षेप का विषय होने से बचा सकते हैं। यदि श्रद्धालु भगवद्भक्तों, जिज्ञासु छात्रों का कुछ भी लाभ इससे हुआ तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा। इसमें जो कुछ भूल या त्रुटि हुई है उसका एक मात्र अपराधी मैं हूं और जो भी इसमें अच्छाई है उसका हेतु एक मात्र उन आचार्य चरणों की कृपा है, जिन्हों ने मुझे समस्त दोषों का आकर समझते हुए भी अङ्गीकार किया है।

लेखक के अन्य ग्रन्थ

वल्लभ संप्रदाय में मधुर-रस

स्वरूप सेवा

सदाचार दर्शन

राधाकृष्ण तत्व

पुष्टिमार्गीय आचार्य और उनकी परम्पराएँ

लेखक

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

हे नाथ! अज्ञानियों की जैसी गाढ़ी प्रीति इन्द्रियों के भोग के नाशवान पदार्थों पर रहती है। उसी प्रकार की प्रीति मेरी तुझमें हो, और तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदय से वह कभी दूर न हो।"

सत्यनारायण शास्त्री

प्रोफेसर वल्लभ वेदांत

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी.